वसुऋद्धि

एलाचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

प्रकाशकः
डी०सी० मीडीया ''निकुंज'' टूण्डला
फिरोजाबाद उ०प्र०

ॐ ह्रीं नमः

प्रथम संस्करण : मई 2014
प्रतियाँ : 3,000

वसुऋद्धि

एलाचार्य मुनि वसुनंदी

मंगलाशीषः
प.पू. राष्ट्रसंत, सिद्धांत चक्रवर्ती दि. श्वेतपिच्छाचार्य श्री १०८ विद्यानंद जी मुनिराज

श्री सत्यार्थी मीडीया प्रकाशन
रविन्द्र भवन इन्द्रा नगर टूण्डला चौराहा
फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश)

मुद्रक :जैन रत्न सचिन जैन ''निकुंज''
मो. 9058017645

प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रित समस्त सामग्री, आवरण पृष्ठ, चित्रादि के सम्बन्ध में प्रकाशक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। इसके किसी भी अंश को पूर्व में बिना लिखित अनुमति के मुद्रित करना या करवाना, कॉपीराइट नियमों का उल्लंघन होगा, जिसका सम्पूर्ण दायित्व उन्हीं का होगा और हर्जे – खर्चे के लिए स्वयं जिम्मेदार होंगे ।

रुपये 100/-

समस्त समर्पण सुमनाञ्जलि

जिनकी ज्ञान गरिमा से समस्त मानव जाति गौरवान्वित है,
जिनकी संयम साधना की सुगन्ध से, प्राणी मात्र आप्लावित है,
जिनकी तपःपूत जीवन प्रभा से यह समस्त जगत आलोकित है,
जिनकी प्राणी मात्र के प्रति मैत्री, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव,
दीन दुखी जीवों के प्रति करुणा भाव,
विपरीत धारणा वालों के प्रति माध्यस्थ भाव,
तथा धर्मात्मा जनों के प्रति वात्सल्य का भाव सदा प्रवाहित रहता है,
जिनकी आशीषानुकम्पा से मुझे मेरा गंतव्य दृष्टिगोचर हुआ है,
यथार्थता व शाश्वतता के मंगल मार्ग की अनुपम उपलब्धि हुई है,
जो युग दृष्टा व स्व के ज्ञाता-दृष्टा व सृष्टा हैं,
जो लघु काम में रत्नत्रय की त्रिवेणी हैं,

उन महामनीषी, कालजयी, युग पुरुष, राष्ट्रसंत, सनातन। विश्व धर्म संप्रेरक, सिद्धान्त चक्रवर्ती पवित्रात्मा दिगम्बर संत श्वेत पिच्छाचार्य गुरूदेव श्री १०८ विद्यानन्द जी मुनिराज के कर कमलों में (उनके ही संयम दिवस के अवसर पर) सिद्ध, श्रुत व आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु करते हुए सादर समर्पित है। 'नव निधि' यह कृति व कृतिकार।

एलाचार्य वसुनंदी मुनि

रत्नमाला

-:मंगलाचरण:-

सर्वज्ञं सर्ववागीशं वीरं मारमदापहम्।
प्रणमामि महामोह शान्तये मुक्ततापतये।।१।।

अर्थः- मैं (शिव कोटि आचार्य) सर्वज्ञ, सम्पूर्ण, स्याद्वाद वाणी के ईश्वर, कामदेव के मद को बाल्यावस्था में ही नष्ट करने वाले वीर वर्द्धमान महावीर स्वामी को स्वकीय मोह की शान्ति व मुक्ति की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ।।१।।

सारं यत्सर्व सारेषु वन्द्यं यद्वन्दितेष्वपि।
अनेकान्त मयं वन्दे तदर्हद्वचनं सदा।।२।।

अर्थः- जो संसार की सारभूत वस्तुओं में भी सारभूत है वन्दनीय पदार्थों में भी विशेष वन्दनीय है, उस अनेकान्त वाणी (जिनवाणी) को मैं नमस्कार करता हूँ।

सदावदातमहिमा सदा ध्यान परायणः।
सिद्धसेन मुनि र्जीया-द्भट्टारक पदेश्वरः।।३।।

अर्थः- जो निर्मल कीर्ति के धारक हैं, सदैव धर्म ध्यान में लीन रहते हैं वे परम पूज्य (भट्टारक) सिद्धसेन मुनिराज सदैव जयवन्त रहें।

स्वामी समन्तभद्रो में, ऽहर्निशं मानसेऽनधः।
तिष्ठताज्जिनराजोद्य, शासनाम्बुधि चन्द्रमाः।।४।।

अर्थः- **आज इस कलिकाल में जिन शासन रूपी सागर को बढ़ाने वाले चन्द्रमा रूपी** समन्तभद्र स्वामी सदैव मेरे निर्मल चित्त में विराजमान रहें।

वर्द्धमान जिनाभावाद्भारते भव्य जन्तवः।
कृतेन येन राजन्ते तदहं कथयामि वः।।५।।

अर्थः- वर्द्धमान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के उपरान्त इस भरत क्षेत्र के जीव जिस पवित्र आचरण के द्वारा शोभा को प्राप्त हों तो अभ्युदय व निश्रेयस सुख को पा सकते हैं उस धर्म को मैं कहता हूँ।

सम्यक्त्वं सर्व जन्तूनां, श्रेयः श्रेयः पदार्थिनाम्।
विना तेन व्रतः सर्वो- ऽप्यकल्प्यो मुक्ति हेतवे।।६।।

अर्थः- सर्व प्राणियों के लिये संसार में विद्यमान सर्व कल्याणकारी पदार्थों में सम्यक्त्व ही अत्यन्त श्रेष्ठ है इसके बिना व्रत भी मुक्ति या कल्याण के हेतु नहीं हो सकते।

निर्विकल्प श्चिदानन्दः, परमेष्ठी सनातनः।
दोषातीतो जिनोदेव-स्तदुपज्ञं श्रुतिःपरा।।७।।

अर्थः- जो निर्विकल्प हैं, शुद्ध आत्मा के स्वाभाविक आनन्द में लीन हैं, परम पद में स्थित हैं, शाश्वत हैं, निर्दोष (१८ दोषों से रहित) हैं वे जिनेन्द्र देव ही सच्चे देव हैं उनके द्वारा कथित उपदेश ही सच्चे शास्त्र हैं।

निरम्बरो निरारम्भो, नित्यानन्द पदार्थिनः।
धर्मदिक् कर्मधक् साधु-र्गुरुरित्युच्यते बुधैः।।८।।

अर्थः- जो निर्वस्त्र हैं, आरम्भ रहित हैं, सदैव अविनाशी आनन्द के पद (मुक्ति) को चाहते हैं, धर्म से संयुक्त हैं तथा कर्मों को जलाने वाले हैं ऐसे साधु पुरुषों को ही गणधरादि देव गुरु कहते हैं।

अमीषां पुण्य हेतूनां, श्रद्धानं तन्निगद्यते।
तदेव परमं तत्त्वं, तदेव परमं पदम्।।९।।

अर्थः- **उपरोक्त (सच्चे देव, शास्त्र, गुरु) पुण्य के साधनों में श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन** है वही परम तत्त्व है वही परम **पद है ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुषों ने कहा है।**

विरत्यासंयमेनापि, हीनः सम्यक्त्व वान्नरः।
सुदैवं याति कर्माणि, शीर्णयत्येव सर्वदा।।१०।।

अर्थः- **अविरत सम्यक्दृष्टि मनुष्य भी (प्राणी संयम व इंद्रिय संयम से हीन) सच्चे** देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा से सातिशय पुण्य का अर्जन करता है, तथा कर्मों को जीर्ण शीर्ण करने में संलग्न है।

अबद्धायुष्क पक्षे तु, नोत्पत्तिः सप्त भूमिषु।
मिथ्योपपाद त्रितये, सर्वस्त्रीषु च नान्यथा।।११।।

अर्थः- अबद्धायुष्क (जिसने आगामी भव की आयु नहीं बांधी है) सम्यक् दृष्टि मनुष्य नरकों की सात भूमियों में भवनत्रिक (भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी देवों) में एवं नपुंसक व स्त्री अवस्था में जन्म नहीं लेता।

महाव्रताणु व्रतयो, रूपलब्धि निरीक्ष्यते।
स्वर्गेऽन्यत्र न सम्भाव्यो, व्रत लेशोऽपि धीधनैः।।१२।।

अर्थः- जो सम्यक् दृष्टि महाव्रती या अणुव्रती हैं वे स्वर्ग में ही जन्म लेते हैं ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है, अतः बुद्धिमान पुरुषों को महाव्रती या अणुव्रती शीघ्र ही बन जाना चाहिये।

संवेगादि परः शान्त स्तत्त्वनिश्चयवान्नरः।
जन्तुर्जन्मजरातीत पदवीमव गाहते।।१३।।

अर्थः- जो संवेगादि भावना (धर्म, धर्मात्मा व धर्म के फलों को पाकर अत्यन्त हर्षित होते हैं) में लीन हैं, शान्त परिणामों से युक्त हैं, तत्त्व के ज्ञाता हैं, वे ही मनुष्य जन्म जरा से रहित (मुक्त) अवस्था को प्राप्त करते हैं।

अणुव्रतानि पञ्चैव, त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षा व्रतानि चत्वारी त्येवं द्वादशधा व्रतम्।।१४।।

अर्थः- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये श्रावक के बारह व्रत हैं इन्हें पालन करने वाला ही व्रती श्रावक होता है अन्यथा नहीं।

हिंसातोऽसत्यतश्चौर्यात् परनार्याः परिग्रहात्।
विमते र्विरतिः पंचाणुव्रतानि ग्रहेशिनाम्।।१५।।

अर्थः- अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाणाणु व्रत (पाँचों पापों से विरक्त रूप) ये ग्रहस्थों के पाँच अणुव्रत हैं।

गुणव्रतानामाद्यं स्याद्दिग्व्रतं तद् द्वितीयकम्।
अनर्थदण्ड विरति स्तृतीयं प्रणिगद्यते।।१६।।

भोगोपभोग संख्यानम् शिक्षा व्रतमिदम् भवेत्।
सामायिकं प्रोषधोप-वासोऽतिथिषु पूजनम्।।१७।।

मारणान्तिक सल्लेख, इत्येवं तच्चतुष्टयम्।
देहिनः स्वर्ग मोक्षैक-साधनं निश्चित क्रमम्।।१८।।

अर्थः- दिग्व्रत, अनर्थदण्ड विरति व्रत एवं भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुण व्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि पूजन, मारणान्तिक सल्लेखना व्रत ये चार शिक्षाव्रत हैं।

ये चारों शिक्षा व्रत प्राणियों के लिये स्वर्ग के साक्षात् एवं मोक्ष के पारम्परिक कारण हैं।१६,१७,१८।।

मद्य मांस मधु त्याग-संयुक्ताणु व्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चो-दुम्बरैश्चार्भ केष्वपि।।१९।।

अर्थः- मद्य, माँस, मधु का त्याग और पाँच अणुव्रतों का पालन ये श्रावकों के आठ मूलगुण हैं अथवा प्रारम्भिक श्रावक (पाक्षिक श्रावक) के लिये मद्य, माँस, मधु व पाँच उदम्बर फलों (बड़, पीपल , ऊमर, कठूमर, पाकर) का त्याग ये आठ मूल गुण हैं।

वस्त्रपूतं जलं पेय मन्यथा पाप कारणम्।
स्नानेऽपि शोधनं वारि, करणीयं दया परैः।।२०।

अर्थः- दया धर्म पालने में तत्पर श्रावकों को वस्त्र से छना हुआ पानी पीना चाहिये अन्यथा (अनछना) पीने से पाप लगता है, इतना ही नहीं, शक्य हो तो स्नान भी शुद्ध छने पानी से ही करना चाहिये।

मुहूर्तं गालितं तोयं, प्रासुकं प्रहरद्वयम्।
उष्णोदक महोरात्रं, ततः सम्मूर्च्छिमं भवेत्।।२१।।

अर्थः- छना हुआ जल मुहूर्त प्रमाण काल तक, प्रासुक जल (लवंग, सौंफ आदि से करने पर) दो पहर यानि ६ घण्टे तक, तपा-उबला हुआ जल अहोरात्रि यानि २४ घण्टे तक ग्राह्य है, उसके उपरान्त उसमें सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हैं।

तिल तण्डुल तोयं च, प्रासुकं भ्रामरीगृहे।
न पानाय मतं तस्मान् मुख शुद्धिर्न जायते।।२२।।

अर्थः- तिल तण्डुल या अन्य प्रकार से प्रासुक किया हुआ जल चौके में भोजन बनाने के लिए प्रासुक है किन्तु पीने के लिये नहीं, क्योंकि उससे मुखशुद्धि नहीं होती।

पाषाण स्फोटितं तोयं, घटीयंत्रेण ताडितम्।
सद्यः सन्तप्त वापीनां, प्रासुकं जल मुच्यते।।२३।।

देवर्षीणां प्रशौचाय, स्नानाय च गृहार्थिनाम्।
अप्रासुकं परं वारि, महातीर्थज मप्यदः।।२४।।

अर्थः- पत्थरों से टकराया हुआ जल, घटी यंत्र से ताडित जल, वापियों का सन्तप्त जल, साधुओं को शौच के लिये एवं गृहस्थों को स्नान के लिये प्रासुक है, किन्तु भोजन के लिये या पीने के लिये नहीं। नदी, तालाब, झील व वापिकाओं का जल भी अप्रासुक ही होता है।

प्रतिमाः पालनीयाः स्युरेकादश ग्रहेशिनाम्।
अपवर्गाधिरोहाय, सोपानन्तीह ताः पराः।।२५।।

अर्थः- श्रावक को ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना चाहिये ये ग्यारह प्रतिमा के यम, नियम, व्रत स्वर्ग के साक्षात् हेतु हैं, मोक्ष की सीढ़ियाँ हैं।

चर्म पात्र गतं तोयं, घृतं तैलं च वर्जयेत्।
नवनीतं प्रसूनादि शाकं नाद्यात्कदाचन।।२६।।

अर्थः- श्रावकों को चर्म पात्र में रखा हुआ जल, घी, तैल आदि नहीं लेना चाहिये, अमर्यादित नवनीत (मक्खन) पुष्पों का शाक भी नहीं खाना चाहिये।

कलौ काले वने वासो, वर्ज्यते मुनि सत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे, ग्रामादिषु विशेषतः।।२७।।

अर्थः- इस कलिकाल में मुनियों को (संहनन हीन होने के कारण) जंगल में निवास नहीं करना चाहिये, उन्हें ग्रामादिक में जिनालय, धर्मशाला व अतिथि भवनों में ठहरना चाहिये।

तेषान्नैर्ग्रंथ्य पूतानां, मूलोत्तर गुणार्थिनाम्।

नानायति निकायानां, छद्मस्थ ज्ञान राजिनाम्।।२८।।

ज्ञान संयम शौचादि हेतूनां प्रासुकात्मनाम्।
पुस्तक पिच्छ मुख्यानां दानं दातुर्विमुक्तये।।२९।।

अर्थः- उन निर्ग्रन्थ- निःपरिग्रही दिगम्बरत्व से पवित्र, अट्ठावीस मूलगुण व चौंतीस उत्तर गुणों से सहित तथा जो क्षायोपशमिक ज्ञान से शोभायमान हैं उनकी (साधु गणों- आचार्यों, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, चतुर्विध संघ, साधक व मनोज्ञ अनगारों की) ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण, बैठने व सोने के उपकरण, शास्त्र, पिच्छी, कमण्डलु, चटाई, श्रुतपीठ, पाटा, घास आदि देकर सेवा करनी चाहिये। यह उपकरण दान व सेवा दातार की मुक्ति के लिये समर्थ कारण है।

पंच सूना कृतं पापं, यदेकत्र गृहाश्रमे।
तत्सर्वमतिथये वासौ, दाता दानेन लुम्पति।।३०।।

अर्थः- पंच सूना (ओखली, चक्की, चूल्हा, बुहारी, घिनोची) से अर्जित आरम्भ जनित पापों को, दाता, व्रतियों को आहार आदि दान देने से नष्ट कर देता है।

आहाराभय भैषज्य, शास्त्रदानादि भेदतः।
चतुर्धा दान माम्नातं, जिन देवेन योगिना।।३१।।

अर्थः- आहार दान, अभयदान, औषधिदान, शास्त्रदान के भेद से परमयोगी भगवान जिनेन्द्र देव ने चार प्रकार का दान कहा है।

अद्य (येनाद्य) काले यतीनां यैः, वैयावृत्यं कृतम्मुदा।
(तेनैव) तैरेव शासनं जैनं, प्रोद्धतं शर्म्मं कारणम्।।३२।।

अर्थः- जिन सज्जन पुरुषों ने वर्तमान काल में (दुषमा नामक पंचम काल कलिकाल में) प्रमुदित मन से साधुओं की सेवा वैयावृत्ति की है उन्होंने मोक्ष सुख के एक मात्र कारण भूत जैन धर्म का उद्धार किया है।

उत्तुगं तोरणोपेतं, चैत्यागार मघक्षयम्।
कर्तव्यं श्रावकैः शक्त्या, मठादिक मपि स्फुटम्।।३३।।

अर्थः- श्रावकों का कर्तव्य है कि वे तोरण द्वारों से युक्त एवं पापों के क्षय करने वाले ऊँचे-ऊँचे जिनमंदिर बनावें तथा यथाशक्ति साधुओं क ठहरने के लिये मठ, धर्मशाला व अतिथि भवन भी बनावें।

येन श्रीमज्जिनेशस्य, चैत्यागार मनिन्दितम्।
कारितं तेन भव्येन, स्थापितं जिन शासनम्।।३४।।

अर्थः- जिस भव्य पुरुष ने (शिल्प शास्त्र, वास्तु शास्त्र व प्रतिष्ठा शास्त्र के अनुसार) निर्दोष जिन मंदिर बनवाये हैं, उसने जिन शासन जैन धर्म को स्थिर किया है।

गौभूमि स्वर्ण कच्छादि दानं वसतयेऽर्हताम्।
कर्तव्यं जीर्ण चैत्यादि, समुद्धरण मप्यदः।।३५।।

अर्थः- जिन मंदिरों की सुरक्षा व समुचित व्यवस्था हेतु गाय, भूमि, स्वर्ण, खेत बाग आदि भी दान करना चाहिये और जीर्ण मंदिरों का पुनरुद्धार भी करना चाहिये।

सिद्धान्ताचार शास्त्रेषु, वाच्यमानेषु भक्तितः।
धनव्ययोऽव्ययो नृहणां जायतेऽत्र महर्द्धये।।३६।।

अर्थः- सिद्धान्त ग्रन्थ, आचार संहिता, प्रथमानुयोग के शास्त्र, परमागम, शब्दागम, युक्त्यागम आदि आगम ग्रन्थों का प्रकाशन करना चाहिये, विद्वानों के लिये भी (साधु व त्यागी व्रती वर्ग के अध्ययन हेतु) धन व्यय करना चाहिये, उससे गृहस्थों को महान ऋद्धि-वैभव की प्राप्ति होती है।

दया दत्त्यादिभिर्नूनं, धर्म्मसन्तान मुद्धरेत्।
दीना नाथानपि प्राप्तान् विमुखान्नैव कल्पयेत्।।३७।।

अर्थः- गृहस्थ श्रावकों को दयादत्ति, समदत्ति आदि के द्वारा धर्म की परम्परा को वृद्धिंगत करना चाहिये, तथा दीन हीन व गरीबों को भी करुणादान देना चाहिए।

व्रतशीलानि यान्येव, रक्षणीयानि सर्वदा।
एकेनैकेन जायन्ते, देहिनां दिव्य सिद्धयः।।३८।।

अर्थः- गृहस्थ श्रावकों को स्व-पर के स्वीकृत अणु व्रतों की रक्षा करनी चाहिये, एक-एक अणुव्रत या शीलव्रत अनेक दिव्य सिद्धि का प्रदाता होता है।

मनो वचन कायैर्यो न जिघांसति-देहिनः।
सस्याद्गजादि युद्धेषु, जय लक्ष्मी निकेतनम्।।३९।।

अर्थः- जो श्रावक मन वचन काय से हिंसा का त्याग करता है वह अगले भव में चतुरंग सेना से युक्त युद्ध क्षेत्र में भी विजय लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

सुस्वरः स्पष्ट वागिष्ट मत व्याख्यान दक्षिणः।
क्षणार्द्ध निर्जितारति-रसत्य विरते र्भवेत्।।४०।।

अर्थः- असत्य वचन के त्याग से मनुष्य उत्तम स्वर वाले मृदुभाषी, अभीष्ट तत्त्व के कुशल वक्ता, क्षणार्द्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला होता है।

चतुःसागर सीमाया, भुव स्यादधियो नरः।
परद्रव्य परावृत्तः, सुव्रत्योपार्जित स्वकः।।४१।।

अर्थः- पर द्रव्य का त्यागी अचौर्य व्रत धारी व न्यायोपार्जित धनी मनुष्य उक्त व्रत के प्रभाव से चतु सागरों के मध्य विस्तृत पृथ्वी का स्वामी होता है।

मातृपुत्री भगिन्यादि संकल्पं परयोषिति।
तन्वानः कामदेवः स्याद्, मोक्षस्यापि च भाजनम्।।४२।।

अर्थः- जो पुरुष पर स्त्री को माता, बहिन व पुत्रीवत् मानता है, विषय वासना से परांगमुख है, वह कामदेव या कामदेव के समान सुन्दर रूप को प्राप्त करता है, तथा निकट भविष्य में मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

या याः समग्रशोभाद्याः सम्पदो जगतीतले।
तास्ताः सर्वा अपि प्रायः पर कान्ता विवर्ज्जनात्।।४३।।

अर्थः- संसार में जो कुछ भी वैभव है वह समस्त वैभव पर स्त्री का त्याग करने वाले पुरुषों को नियम से प्राप्त होता है।

अतिकांक्षा हतायेन, ततस्तेन भवस्थितिः।
हृस्विता निश्चिता वास्य, कैवल्य सुख संगतिः।।४४।।

अर्थः- जो भव्य श्रावक अपने परिग्रह का परिमाण जितना कम कर लेता है वह अपने संसार को उतना ही कम कर लेता है (परिग्रह ही संसार है) परिग्रह रहित केवल ज्ञान, दर्शन ,अनंत सुख व वीर्यादि को प्राप्त करने वाला होता है।

मद्य मांस मधु त्याग-फलं केनानु वर्ण्यते।
काक माँस निवृत्याऽभूत्, स्वर्गे खदिरसागरः।।४५।।

अर्थः- शराब, माँस व शहद के त्याग के फल का वर्णन करने में कौन समर्थ है, अर्थात् इसका महान फल होता है, मात्र कौवे के माँस का त्याग करने वाला खदिरसार नामक भील भी स्वर्ग में देव हुआ।

मद्यस्यावद्यमूलस्य, सेवनं पाप कारणम्।
परत्रास्तामिहाप्युच्चै र्जननीं वांछयेदरम्।।४६।।

अर्थः- पाप का मूल कारण मदिरा का सेवन है, मद्यपायी इस लोक में अत्यन्त तीव्र दुःखों को भोगता है तथा परलोक में भी नरकादि के दुख भोगता है। उसकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो जाती है कि वह अपनी माँ के साथ ही विषय सेवन की वांछा कर लेता है।

गर्म्मुतोऽशुचि वस्तूना-मप्याधाय रसान्तरम्।
मधूयन्ति कथं तन्ना पवित्रं पुण्य कर्मषु।।४७।।

अर्थः- मधुमक्खियाँ गंधादिक तृण वृक्षों के पुष्पों से संग्रह कर अपने छत्ते में ले जाकर रखती है, उसी में उनका वमन, उच्छिष्ट तथा मल एकत्रित होता है, वह मधु क्या अपवित्र नहीं है? अर्थात् वह अपवित्र है, अपवित्रता का जनक है, पाप का कारण है।

व्यसनानि प्रवर्ज्यानि, नरेण सुधियाऽन्वहम्।
सेवित्यान्यादृतानि स्युर्न्नरकायाश्रियेऽपिच।।४८।।

अर्थः- सुधी श्रावकों को जुआ आदि सर्व व्यसनों का परित्याग कर देना चाहिये, जो पुरुष इन्हें अच्छा मानकर आदर पूर्वक सेवन करते हैं वे इस लोक में निर्धनता, दीनता, रोग, कष्ट व परलोक में (नरकादि दुर्गतियों के) दुःखों को प्राप्त करते हैं।

छत्र चामर वाजीभ रथ पादाति संयुताः।
विराजन्ते नरा यत्र, ते रात्र्याहार वर्जिनः।।४९।।

अर्थः- जिन महानुभावों ने यहाँ वर्तमान काल में छत्र, चमर, हाथी, घोड़ा, रथ, विमान, पालकी, पैदल, सेना आदि युक्त राज्य विभूति प्राप्त की है, वह सब पूर्व में किये रात्रि भोजन के त्याग का ही फल है।

दशन्ति तं न नागाद्या, न ग्रसन्ति च राक्षसाः।
न रोगाश्चापि जायन्ते, य स्मरेन्मंत्र मव्ययम्।।५०।।

रात्रौ स्मृत नमस्कारः, सुप्तः स्वप्नान् शुभाशुभान्।
सत्यानेव समाप्नोति, पुण्यं च चिनुते परम्।।५१।।

अर्थः- जो प्राणी इस णमोकार महामंत्र का निष्ठापूर्वक जाप करता है उसे बिच्छू आदि विषैले जानवर नहीं डसते हैं, सिंह, व्याघ्र, मगर आदि भक्षण नहीं करते, ग्रह व दुष्ट देव उन्हें कष्ट नहीं दे सकते, उन्हें रोग भी नहीं सताते, उसे स्वप्न में भावी शुभाशुभ स्पष्ट दिखाई देता है तथा वह सातिशय पुण्य का अर्जन करता है।

नित्य नैमित्तिकाः कार्याः क्रियाः श्रेयोर्थिना मुदा।
ताभिर्गूढ़ मनस्को यत्, पुण्य पण्य समाश्रयः।।५२।।

अर्थः- स्व-पर कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुषों को नित्य व नैमित्तिक धार्मिक अनुष्ठानों को अवश्य ही करना चाहिये, विषय कषायों व पापों से मन को हटा कर धर्म ध्यान में लीन रहने वाला पुरुष अत्यन्त पवित्र, प्रशंसनीय, पुण्य भाजक, साता वेदनीय का अधिकारी होता है।

अष्टम्यां सिद्ध भक्त्याऽमा, श्रुत चारित्र शान्तयः।
भवन्ति भक्तयो नूनं, साधूनामपि सम्मतिः।।५३।।

अर्थः- श्रावक और श्रमणों को भी अष्टमी पर्व के दिन श्री सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति (चारित्रालोचना सहित पंचमहागुरु भक्ति भी) शान्ति भक्ति एवं समाधि भक्ति पढ़ना चाहिये।

पाक्षिक्यः सिद्ध चारित्र शान्तयः शान्ति कारणम्।
त्रिकाल वंदना युक्ता, पाक्षिक्यपि सतां मता।।५४।।

अर्थः- पाक्षिक पर्व में (चतुर्दशी/अमावस्या पूर्णमासी के दिन में) श्री सिद्ध भक्ति (चैत्य भक्ति, श्रुत भक्ति, पंच- महागुरु भक्ति सहित) चारित्र भक्ति, शान्ति भक्ति व समाधि भक्ति का पाठ करना चाहिये क्योंकि ये भक्तिपाठ नियम से आत्मशांति के कारण हैं। त्रिकाल वन्दना में भी उपरोक्त भक्ति पढ़ना चाहिये, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

चतुर्दश्यां तिथौ सिद्ध चैत्य श्रुत समन्विते।
गुरू शांति नुती नित्यं, चैत्यं पंच गुरू अपि।।५५।।

अर्थः- चतुर्दशी तिथि में सिद्ध भक्ति, चैत्य भक्ति, श्रुत भक्ति पंच महागुरु भक्ति और शांति भक्ति (तथा समाधि भक्ति) पढ़ना चाहिये, तथा नित्य चैत्य भक्ति व पंच महागुरु भक्ति का पाठ करना चाहिये।

नन्दीश्वर दिने सिद्ध नन्दीश्वर गुरू चिता।
शान्ति भक्तिः प्रकर्तव्या बलि पुष्प समन्विता।।५६।।

अर्थः- नंदीश्वर पर्व के दिनों में सिद्ध भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, पंचगुरु भक्ति व शांति भक्ति करनी चाहिये तथा शान्ति भक्ति के समय श्रावक को इन पर्वों में पुष्प व नैवेद्य आदि द्रव्य विशेष रूप से चढ़ाना चाहिये।

क्रियास्वन्यासु शास्त्रोक्त मार्गेण करणं मता।
कुर्वन्नेवं क्रियां जैनो, गृहस्थाचार्य उच्यते।।५७।।

अर्थः- आचार्यों द्वारा लिखित शास्त्रों में बताये हुये विधान के अनुसार गर्भाधान आदि क्रियाओं का करना उचित है, जो विद्वान श्रावकोचित क्रियाओं का पालन करता है व दूसरों को कराता है वह गृहस्थाचार्य कहलाता है।

चिदानन्दं परं ज्योतिः केवलज्ञान लक्षणम्।
आत्मानं सर्वदा ध्याये देतत्तत्वोत्तमं नृणाम्।।५८।।

अर्थः- भव्य जीवों को केवलज्ञान लक्षण से युक्त चिदानन्द रूप परम ज्योति का या अपनी शुद्ध आत्मा का सर्वदा ध्यान करना चाहिये। यह परम तत्त्व है एवं उत्तम चारित्र है।

गार्हस्थ्यं बाह्य रूपेण, पालयन्नन्तरात्मभुत्।
मुच्यते न पुनर्दुःख योनावतति निश्चितम्।।५९।।

अर्थः- अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त जो गृहस्थ बाह्य रूप से (देशव्रतों का भी) पालन करता है वह भी दुःखों से मुक्त हो जाता है ऐसा निश्चय से जानो।

कृतेन येन जीवस्य पुण्य बन्धः प्रजायते।

तत्कर्तव्यं सदान्यच्च न कुर्यादति कल्पितम्।।६०।।

अर्थः- जिन कर्तव्यों के पालन से, व्रतों से, चारित्र से सातिशय पुण्य का बंध होता है वे सभी कार्य गृहस्थों को अवश्य करना चाहिये तथा जो कुदेवादि से संबंधित हैं, पाप वर्द्धक हैं, संसार के कारण हैं वे कार्य कभी भी नहीं करने चाहिये।

बौद्ध चार्वाक सांख्यादि मिथ्यानय कुवादिनाम्।
पोषणं माननं वापि, दातुः पुण्याय नो भवेत्।।६१।।

अर्थः- बौद्ध, चार्वाक, सांख्यादि मिथ्यानय एवं कुवादि का पोषण, उनका अनुमोदन करना भी पाप का कारण है, उससे पुण्य तो किंचित् भी नहीं होता। अर्थात् मिथ्यात्व के पोषण से सम्यक्त्व का विघात ही तो होगा, मोक्ष के साधकतम् पुण्य का आश्रव क्यों होगा?

स्वकीयाः परकीया वा, मर्यादा लोपिनो नराः।
न माननीयाः किं तेषां, तपो वा श्रुत मेव च।।६२।

अर्थः- जो प्राणी (मानव) अपनी या दूसरों की मान मर्यादा या सच्चे शास्त्रों के उपदेशों का, जीवन संहिता का या सदाचार का लोप करते हैं वे सभ्य जगत में सम्मानीय नहीं हैं, उनका तप और श्रुत भी अमान्यवत् है।

सुव्रतानि सुसंरक्षन् नित्यादि मह मुद्धरेत्।
सागरः पूज्यते देवै र्मान्यते च महात्मभिः।।६३।।

अर्थः- जो भव्य श्रावक शास्त्रानुसार व्रतों की मर्यादा का पालन करते हैं, शास्त्र का लोप नहीं करते या स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति नहीं करते, वे श्रावक व श्रमण देवों द्वारा पूज्य एवं साधु पुरुषों द्वारा सम्मान पूर्वक प्रतिष्ठित किये जाते हैं।

अतीचार व्रताद्येषु प्रायश्चित्तं गुरूदितम्।
आचरे ज्जाति लोपञ्च, न कुर्यादाति यत्नतः।।६४।।

अर्थः- व्रतों में, मूलगुणों में या नैतिक कर्तव्यों में भूल होने पर, मर्यादा का लोप होने पर या अतिचार अनाचार आदि दोष लगने पर गुरु (निर्ग्रंथाचार्य) द्वारा देय प्रायश्चित को ग्रहण करके आत्म शुद्धि करना चाहिये। कभी जाति, कुल व आर्य पुरुषों के योग्य आचरण का लोप नहीं करना चाहिये।

श्रावकाध्ययन प्रोक्त कर्मणा ग्रहमेधिता।
सम्मता सर्व जैनानां, सा त्वन्या परिपन्थनात्।।६५।।

अर्थः- श्रावकों के आचरण की जो समग्र विधि उपासकाध्ययन में वर्णित है वह सब विधि गृहस्थों के लिये मान्य है, किन्तु इसके विपरीत जो विधि मिथ्यामतियों के द्वारा स्वच्छंदता पूर्वक कही है वह मान्य नहीं है।

सर्व एव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सताम्।
यत्र न व्रत हानिः स्यात्, सम्यक्त्वस्य च खंडनम्।।६६।।

अर्थः- सज्जन पुरुषों द्वारा प्रमाणिक वह समस्त लौकिक विधि एवं न्याय नीति युक्त सर्व सदाचार जैनों के लिये मान्य है, जिसके पालन से सम्यक्त्व खण्डित नहीं हो तथा व्रतों में कोई दूषण न लगे।

यो नित्यं पठति श्रीमान् रत्नमालामिमां पराम्।
स शुद्ध भावनोपेतः शिवकोटित्व माप्नुयात्।।६७।।

अर्थः- जो भव्य महानुभाव श्रीमान् शुद्ध भावना युक्त श्री शिवकोटि आचार्य द्वारा रचित इस रत्न माला ग्रन्थ को पढ़ता है, चित्त में धारण करता है वह आत्म कल्याण की करोड़ों परम्पराओं को प्राप्त करता है।

इस प्रकार महामनीषी उत्कृष्ट वाग्मी, न्यायाचार्य, वादविजेता, निर्ग्रंथाचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी जी के शिष्य, करोड़ों कल्याण की परम्पराओं के आराधक श्रीमद् शिवकोट्याचार्य द्वारा विरचित एवं एलाचार्य मुनि वसुनंदि द्वारा अनुवादित व सम्पादित उपासकाध्ययन के अंग में समन्वित रत्न माला नामक चरणानुयोग सम्बन्धी यह ग्रन्थ परिपूर्ण हुआ। यह ग्रन्थ जब तक नभ में सूर्य चन्द्रादि हैं तब तक भव्य जीवों के लिये कल्याण कारक बने।

।।इति सर्वेषां मंगलं भवतु।।

स्वरूप सम्बोधन

भट्ट अकलंक देव

मुक्तामुक्तैक रूपो यः, कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्।।१।।

अर्थः- जो कर्मों से मुक्त तथा सम्यग्ज्ञानादि गुणों से अमुक्त (युक्त) होते हुये एक रूप **हैं, उन अक्षय ज्ञानमूर्ति परमात्मा को मैं (अकलंक देव) नमस्कार करता हूँ।।१।।**

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं, क्रमाद्धेतु फलावहः।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्ति व्ययात्मकः।।२।।

अर्थः- जो ज्ञान दर्शन उपयोग वाला है, कारण व कार्य को क्रमशः धारण करने वाला **है, जो अनादि अनन्त है, ग्राह्य और अग्राह्य भाव से युक्त है, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से युक्त है, ऐसा यह आत्मा है।।२।।**

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञान दर्शन तस्तस्माच्चेतना चेतनात्मकः।।३।।

अर्थः- वह आत्मा प्रमेयत्व आदि धर्मों के द्वारा अचेतन रूप है तथा ज्ञान दर्शनादि गुणों से चेतन रूप है इसलिये (देहादि संयुक्त) चेतनाचेतन दोनों रूप है।।३।।

ज्ञानाद्भिन्नो न चा भिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वा परीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः।।४।।

अर्थः- पूर्व (भूतकाल की) एवं अपर (वर्तमान व भावी) पर्यायों के ज्ञान से युक्त यह आत्मा ज्ञान से न तो सर्वथा भिन्न है और न ही अभिन्न है कथंचित् भिन्न भी है कथंचित् अभिन्न भी है अर्थात् भिन्नाभिन्न स्वरूप कहा गया है।।४।।

स्वदेह प्रमितश्चायं, ज्ञान मात्रोऽपि नैव सः।
ततः सर्वगतश्चायं, विश्व व्यापी न सर्वथा।।५।।

अर्थः- यह आत्मा स्वदेह प्रमाण है, लोक व्यापी ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान मात्र भी नहीं है, सर्व पदार्थों का स्पर्शक न होने से सर्वथा विश्व व्यापी भी नहीं है।।५।।

नानाज्ञानस्वभावत्वा- देकोनेकोऽपि नैव सः।
चेतनैक स्वभावत्वा- देकानेकात्मको भवेत्।।६।।

अर्थः- वह आत्मा नाना ज्ञान स्वरूप होने से अनेक होते हुये भी सर्वथा अनेक रूप नहीं है, चेतना मात्र एक स्वभाव होने से सर्वथा एक रूप भी नहीं है, कथंचित् एक कथंचित् अनेक, कथंचित् एकानेक रूप है।।६।।

नावक्तव्यः स्वरूपाद्यैः, निर्वाच्यः परभावतः।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो, नापि वाचाम गोचरः।।७।।

अर्थः- वह आत्मा स्वरूप आदि की अपेक्षा से अवक्तव्य नहीं है, किन्तु अन्य विवक्षित धर्मों की अपेक्षा से अवक्तव्य (निर्वाच्य) है, इस कारण आत्मा एकान्त से न तो सर्वथा वक्तव्य है न सर्वथा अवक्तव्य है।।७।।

स स्याद् विधि निषेधात्मा, स्वधर्म पर धर्मयोः।
समूर्ति र्बोध मूर्तित्वाद, मूर्तिश्च विपर्ययात्।।८।।

अर्थः- वह आत्मा स्वधर्म की अपेक्षा विधि रूप है तथा पर धर्म की अपेक्षा निषेध रूप होता है, वह ज्ञान मूर्ति होने से मूर्तिरूप/ साकार है और दर्शनादि रूप होने से अमूर्तिक है।।८।।

इत्याद्यनेक धर्मत्वं, बन्ध मोक्षौ तयोः फलम्।
आत्मास्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु।।९।।

अर्थः- इस प्रकार (चेतन-अचेतन, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, मूर्तिक- अमूर्तिक आदि) अनेकान्तात्मक होने से वह आत्मा कर्मों के बन्ध व मोक्ष को, उन दोनों के फल को तथा उन-उन कारणों से आत्मा (उन धर्मों को) स्वयं ही स्वीकारता है।।९।।

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु।
बहिरन्त रूपायाभ्यां, तेषां मुक्तत्वमेव हि।।१०।।

अर्थः- जो आत्मा अपने रागादि परिणामों का, उनके द्वारा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का बंध करने वाला है, वही आत्मा उन कर्मों के फलों को भोगने वाला भी है, और निश्चय से वही आत्मा अंतरंग व बहिरंग उपायों के द्वारा निर्बन्ध या कर्मों से मुक्तत्व रूप ही है।।१०।।

सद्दृष्टिज्ञान चारित्र मुपायः स्वात्म लब्धये।
तत्त्वे याथात्म्य संस्थित्य मात्मनो दर्शनंमतम्।।११।।

अर्थः- अपने शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये अंतरंग उपाय सम्यक् दर्शन, ज्ञान व चारित्र है (बहिरंग में देव, शास्त्र, गुरु हैं) आत्म तत्त्व में यथार्थ संस्थिति ही आत्म दर्शन/निश्चय सम्यक् दर्शन माना गया है।।११।।

यथावद् वस्तु निर्णीतिः, सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थ व्यवसायात्मा, कथंचित् प्रमितेः पृथक्।।१२।।

अर्थः- यथावत् (ज्यों का त्यों) वस्तु का निर्णयात्मक ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है, वह ज्ञान दीपक के समान स्वार्थ व्यवसायात्मक अपने ज्ञेय पदार्थ में प्रवृत्ति रूप होता है। वह ज्ञाता से कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है।।१२।।

दर्शनज्ञान पर्यायेषू-त्तरोत्तर भाविषु,
स्थिरमालम्बनं यद्वा, माध्यस्थ्यं सुख दुःखयोः।।१३।।

ज्ञातादृष्टाऽहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः।।
इतीदं भावनादाढ़र्यं, चारित्र मथवा परम्।।१४।।

अर्थः- सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की पर्यायों में, उत्तरोत्तर विशुद्ध भावों में (अत्यन्त निर्मल चिन्मय भावों में) चित्त की स्थिरता या शुद्धात्मा का अवलम्बन अथवा सुख- दुःख में मध्यस्थता ही सम्यक् चारित्र है, अथवा मैं एक ज्ञाता दृष्टा रूप हूँ, सुख में व दुःख में भी एक (ही कार्य कारण) हूँ इस प्रकार ऐसी भावना की दृढ़ता ही उत्कृष्ट (निश्चय) चारित्र है।।१३-१४।।

तदेतन्मूल हेतोः स्यात्कारणं सह कारकम्।
यद् बाह्यं देशकालादिः तपश्च बहिरंगकम्।।१५।।

अर्थः- इस प्रकार (स्वात्मोपलब्धि में) यह (निश्चय रत्नत्रय रूप परिणाम) अंतरंग कारण है तथा इसके बहिरंग सहकारी कारण द्रव्य, क्षेत्र, कालादि हैं अथवा तपश्चरण बहिरंग सहकारी कारण है।।१५।।

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः।
आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेष विवर्जितम्।।१६।।

अर्थः- इस प्रकार यह सम्पूर्ण आलोचना करके/आत्मा के गुण दोषों का विचार करके अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थिति में यथाशक्ति नित्य ही रागद्वेष से रहित शुद्ध आत्मा की भावना करनी चाहिये।।१६।।

कषायैः रंजितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीली रक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः।।१७।।

अर्थः- कषायों के श्याम वर्ण में अत्यन्त सघनता से रंगा हुआ आत्मा शुद्ध स्वात्म तत्त्व में अवगाहन नहीं कर पाता, जिस प्रकार कि गहरे नीले रंग में रंगे वस्त्र पर सिंदूरी (लाल) रंग निश्चित ही कठनाई से चढ़ता है।।१७।।

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः।
उदासीनत्व माश्रित्य, तत्त्वचिन्ता परो भव।।१८।।

अर्थः- इसलिये दोषों से मुक्ति के लिये, सब प्रकार से निर्मोह (राग-द्वेष से रहित) होकर संसार, शरीर, भोगों से उदासीनता का आश्रय लेकर शुद्ध आत्म तत्त्व के चिन्तन में लीन हो जाओ।।१८।।

हेयोपादेय तत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः।
निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये सावलम्बनः।।१९।।

अर्थः- हेय और उपादेय तत्त्व के स्वरूप को जान करके, अन्य पदार्थ रूप हेय तत्त्व का आश्रय छोड़कर, उपादेय रूप तत्त्व/स्वकीय शुद्धात्मा का ही आलम्बन ग्रहण करना चाहिये।

स्वं परं चेति वस्तुत्वं, वस्तु रूपेण भावय।
उपेक्षा भावनोत्कर्ष, पर्यन्ते शिव माप्नुहि।।२०।।

अर्थः- इस प्रकार तू अपने शुद्धात्म स्वरूप को और पर वस्तु को उनके स्वभाव के अनुसार भा (भाओ) रागद्वेष रहित उपेक्षा भाव की वृद्धि/उत्कर्ष हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति कर।।२०।।

तथाप्यति तृष्णावान् हन्त! मा भूस्त्वमात्मनि।
यावत्तृष्णा प्रभूतिस्ते तावन्मोक्षं न यास्यसि।।२१।।

अर्थः- तुम ऐसा आत्म चिन्तन करने पर भी आत्मा के विषय में अति तृष्णावान् मत होओ, क्योंकि जब तक तुम्हारे अंतरंग में तृष्णा की भावना रहेगी, तब तक तुम मोक्ष न पा सकोगे।।२१।।

यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा स मोक्ष मधिगच्छति।
इत्युक्तत्वाद्हितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत्।।२२।।

अर्थः- जिसके मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं होती, वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, ऐसा (सर्वज्ञ देव को) कथन देने से आत्म हितान्वेषी/स्व कल्याणेच्छुक को कहीं भी आकांक्षा नहीं करनी चाहिये।।२२।।

सापि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते।
आत्माधीने सुखे तात, यत्नं किन्नकरिष्यसि।।२३।।

अर्थः- वह इच्छा भी यदि अपने आत्मा में ही केन्द्रित होने से सुलभ सोचते हो मानते हो तो हे तात! स्वाधीन होने पर प्राप्त सुख में तुम यत्न क्यों नहीं करोगे? अर्थात् उसमें तो तुम प्रयत्न अवश्य करोगे।।२३।।

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमम्।
अनाकुल स्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले।।२४।।

अर्थः- अपनी आत्मा को व पर पदार्थों को जानो किन्तु ऐसा होने पर भी इस भेद भाव के व्यामोह को भी छोड़ दो, केवल निराकुल स्वानुभव से जानने योग्य अपने स्वरूप में ठहर जाओ।।२४।।

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्या विनश्वरम्।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थ मानन्दामृतं पदम्।।२५।।

अर्थः- स्वात्मा, स्वात्मा को, अपने द्वारा स्थित, अपने लिये, अपने से, अपनी आत्मा का, अपनी आत्मा से उत्पन्न अविनाशी आनन्द व अमृतमय पद अपनी आत्मा का ध्यान करके प्राप्त करें।।२५।।

इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयम्,
य एतदा ख्याति श्रणोति चादरात्।
करोति तस्मै परमात्मसम्पदम्,
स्वरूप सम्बोधन पंच विंशतिः।।२६।।

अर्थः- इस प्रकार जो भव्य जीव इस शब्द मय शास्त्र में निबद्ध अपने आत्म तत्त्व को अच्छी तरह विचार करके आदर से पढ़ता है, सुनता है, उसके लिये यह स्वरूप संबोधन पंच विंशति स्तोत्र उत्कृष्ट आत्म सम्पत्ति (परमात्म पद) को प्राप्त कराता है।।२६।।

"इस प्रकार भट्ट अकलंक आचार्य देव द्वारा विरचित परम पूज्य राष्ट्र संत विद्यानन्द जी महाराज के शिष्य एलाचार्य वसुनन्दि मुनि द्वारा अनुवादित तथा सम्पादित स्वरूप संबोधन पंच विंशति स्तोत्र सम्पूर्ण हुआ।"

"।।सर्वेषां मंगलं भवतु।।"

पूज्यपाद श्रावकाचार

।।मंगलाचरण।।

श्रीमज्जिनेंद्रचंद्रस्य सांद्रवाक्चंद्रिकांगिनां।
हृषीष्टदुष्टकर्माष्ट घर्मसंतापनापहा।।१।।

अर्थः- दुष्ट अष्टकर्मरूपी घामसंतापको नाश करने वाली श्रीमज्जिनेंद्र की वचन रूपी सघन चंद्रिका (ज्योति) सब जीवों के इंद्रिय मन को संतुष्ट करो।।१।।

दुराचारतयाक्रांतदुःखसंदोहशांतये।
ब्रवीम्युपासकाचारं चारुमुक्तिसुखप्रदं।।२।।

अर्थः- दुराचार के योग से व्याप्त दुःख समूह की शांति के लिए श्रेष्ठ मुक्ति सुख देने वाला श्रावकाचार मैं (पूज्यपाद) कहता हूँ।।२।।

आप्तोष्टादशभिर्दोषैर्निर्मुक्तः शांतरूपवान्।
निर्ग्रंथः स्यात्तपस्वी च धर्मो हिंसादिवर्जितः।।३।।

अर्थः- अठारह दोषों से रहित शांतरूप (वीतराग) देव, परिग्रहरहित तपस्वी गुरू और हिंसादि पापरहित ही धर्म है।

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिंतनं।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः।।४।।

विस्मयो जननं निद्रा विषादोष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे।।५।।

एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरंजनः।
विद्यंते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः।।६।।

अर्थः- भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग (विषयों में प्रीति), मोह, चिंता, जरा (बुढ़ापा), रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, जन्म, निद्रा, विषाद ये अठारह दोष तीनों लोक के जीव मात्र में होते हैं। इन दोषों से रहित अर्थात् इनमें से एक भी दोष जिसमें नहि हो, वही निरंजन (कर्मरहित) आप्त (सच्चा देव) है। और जिनमें वे दोष हों, वे देव नहीं किंतु संसारी जीव हैं।।४-५-६।।

पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसाद्यपासनं।
प्रमाणद्वयसंवादि शास्त्रं सर्वज्ञभाषितं।।७।।

अर्थः- जो पूर्वापर विरोध रहित, हिंसादि पापों से छुड़ाने वाला (सब जीवों को हितकर) प्रत्यक्ष परोक्ष दो प्रमाणों को कहने वाला, सर्वज्ञ आप्त द्वारा कहा हुआ हो, वहीं सच्चा शास्त्र है।।७।।

सम्यग्दृष्टिका स्वरूपः-

एतेषु निश्चयो यस्य विद्यते स पुमानिह।
सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञेयो मिथ्यादृक् तेषु संशयी।।८।।

अर्थः- उपरि कहे हुये सच्चे देव शास्त्र गुरु में जिसकी श्रद्धा दृढ़ निश्चय हो, वही मनुष्य सम्यग्दृष्टि है। और जिनको इनके विषय में संशयादि है वही मिथ्यादृष्टि है।।८।।

निश्चय सम्यग्दृष्टि का स्वरूपः-

स्वतत्त्वपरतत्त्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः।
संशयादिविनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते।।९।।

अर्थः- जिनकी अपने स्वरूप में उपादेय (ग्रहण करने योग्य) बुद्धि है और परपदार्थों में हेय (त्यागरूप) बुद्धि है, संशयादि (संशय विमोह विभ्रम) रहित है वही निश्चय सम्यग्दृष्टि है।।९।।

सम्यक्त्व का लक्षणः-

नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना।
तपः परं च नैर्ग्रंथ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणं।।१०।।

अर्थः- अरहंत भगवान के सिवाय कोई देव नहीं, अहिंसा धर्म के सिवाय कोई धर्म नहीं, परिग्ररहित नग्न मुनि के सिवाय कोई गुरू नहीं इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धान ही सम्यक्त्व (सम्यक् दर्शन) है।।१०।।

अधिष्ठानं भवेन्मूलं प्रासादानां यथा पुनः।
तथा सर्वव्रतानां च मूलं सम्यक्त्वमुच्यते।।११।।

अर्थः- महलों का आधार जैसे पुखता नीव है उसी प्रकार समस्त प्रकार के व्रतों का मूल एकमात्र सम्यक्त्व है।।११।।

सम्यक्त्व का फलः-

अव्रता अपि सम्यक्त्वे ये दृढ़ा न प्रयांति ते।
स्त्रीनपुंसकतिर्यक्त्वं नारकत्वं दरिद्रतां।।१२।।

अर्थः- जो दृढ़ सम्यग्दृष्टि है और व्रतरहित हो तो भी वह नरक तिर्यंच गति में नहीं जाएगा और स्त्री नपुंसक तन भी नहीं धरेगा तथा दरिद्र कुल में भी उत्पन्न नहिं होगा।।१२।।

श्रावक के अष्ट मूल गुण।

मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुंबरपंचकैः।
गृहिणां प्राहुराचार्या अष्टौ मूलगुणानिति।।१३।।

अर्थः- मद्य मांस मधु ये तीन मकार और पाँच उदुंबर फल (बड़, पीपल, गूलर, कटहल और अंजीर) का मरण पर्यंत त्याग करना सो गृहस्थ के आठ मूल गुण हैं।१३।।

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुंबरसेविषु।।१४।।

अर्थः- मांस खाने वाले के चित्त में कभी दया नहिं होती, मदिरा पीने वाला कभी सच नहिं बोलता , मधुभक्षी और पंचोदुंबर फल खाने वाले के कभी धर्मभाव उत्पन्न नहीं होते।।१४।।

मद्यपान के दोषः-

चित्ते भ्रांतिर्जायते मद्यपानाद् भ्रांतं चित्तं पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यांति मूढास्, तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयं।।१५।।

अर्थः- मद्य पीने से चित्त में भ्रांति होती है। भ्रांत-चित्त वाला पाप करने में लग जाता है। पाप करने वाले मूढ़ दुर्गति में जाते हैं इस कारण न तो मदिरा आप पीवै और न दूसरों को पीने के लिये देवै।।१५।।

न वेत्ति मद्यपानतः स्मरेण विह्वलीकृतः,
स्वमातरं स्वयोषितां समानमेव मन्यते।
विवेकबुद्धिहीनतः करोति देहिनां वधं,
ततो विवेकिभिर्जनैः सुरा निषिध्यते सदा।।१६।।

अर्थः- मद्यपान करके काम से पागल हुआ मनुष्य माता को स्त्री समझ लेता है और विवेक बुद्धि नष्ट हो जाने पर जीवों की हिंसा करने लग जाता है इस कारण विवेकी जन मद्यपान करने का सदा निषेध करते रहते हैं।।१६।।

मांस भक्षण से हिंसा पाप होना-

प्राणिनां देहजं मांस तद्विघातं विना न तत्।
प्राप्यते कारणात्तस्माद्वर्जयेन्मांसभक्षणं।।१७।।

अर्थः- मांस जीवों के शरीर से ही पैदा होता है सो बिना जीवों के मारे मिलता नहीं इस कारण मांस खाने का त्याग करना चाहिये।।१७।।

रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री निंद्या जायते स्फुटं।
द्विधातुजं पुनर्मौंसं पवित्रं जायते कथं।।१८।।

मूलार्थः- स्त्रियों के शरीर रक्त निकलने मात्र से तीन दिन तक अस्पर्श्य माने जाते हैं तो रक्तवीर्यादि से उत्पन्न हुआ मांस पवित्र कैसे हो सकता है।।१८।।

मधु से हिंसा होनाः-

माक्षिकं जंतुसंकीर्णं मधुजालविघाततः।
तज्जायतेंगिरक्षार्थं तस्मात्तत्त्यज्यते बुधैः।।१९।।

मूलार्थः- मधुमक्खियाँ और उनके बच्चों से भरे हुये छत्तों को नष्ट करके ही मधु संग्रह किया जाता है, उन जीवों की रक्षा के लिये ही विवेकी जन मधु को अभक्ष्य समझ त्याग देते हैं।।१९।।

स्थूलाः सूक्ष्मास्त्रसा जीवाः संत्युदुंबरमध्यगाः।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुंबरवर्जनं।।२०।।

मूलार्थः- बड़, पीपल, कठूमर, गूलर, अंजीर इत्यादि उदुंबर फलों में छोटे-मोटे जीव प्रत्यक्ष देखने में आते हैं इस कारण इनको सर्वथा त्याग देने की आज्ञा जिनेंद्र भगवान ने की है।।२०।।

**अणुव्रतानि पंचैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतं।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद् द्वादशात्मकं २१।।**

मूलार्थः- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार गृहस्थ के बारह व्रत होते हैं।२१।।

प्रथम अहिंसाणुव्रतः-

**देवतांमंत्रसिद्ध्यर्थं पर्वण्यौषधिकारणात्।
न भवंत्यंगिनो हिंस्याः प्रथमं तदणुव्रतं।।२२।।**

मूलार्थः- कालीदेवी आदि देवताओं को बलि देने के लिये अथवा मंत्र सिद्धि तथा दवाई के लिये तथा पर्व दिन आदि किसी भी कारण वश होकर किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करना सो प्रथम अहिंसाणुव्रत है।।२२।।

**लाभलोभभयद्वेषैर्व्यलीकवचनं पुनः।
सर्वथा यन्न वक्तव्यं द्वितीयं तदणुव्रतं।।२३।।**

मूलार्थः- लोभ लाभ भय और द्वेष के वश होकर कभी भी असत्य वचन (स्वपर को हानि करने वाले वचन) नहिं कहना उसको दूसरा सत्याणुव्रत कहते हैं।।२३।।

**पतितं विस्मृतं नष्टमुत्पथे पथि कानने।
वर्जनीयं परद्रव्यं तृतीयं तदणुव्रतं।।२४।।**

मूलार्थः- वन रास्ते गली में गिरा हुआ चुराया हुआ परद्रव्य (वस्तु) ग्रहण नहिं करै उसको तीसरा अचौर्याणुव्रत कहते हैं।।२४।।

परेषां योषितो दृष्ट्वा निजमातृसुतासमाः।
कृत्त्वा स्वदारसंतोषं चतुर्थं तदणुव्रतं।।२५।।

मूलार्थः- अपनी स्त्री के सिवाय अन्य स्त्री को माता बहन बेटी समझकर अपनी स्त्री में ही संतुष्ट रहना उसे चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा स्वदारसंतोष नामा व्रत भी कहते हैं।।२५।।

दासीदासरथान्येषां स्वर्णानां योषितां तथा।
परिमाणव्रतं ग्राह्यं पंचमं तदणुव्रतं।।२६।।

मूलार्थः- दासीदास, चौपद, धन, सोना, चांदी रथ आदि सवारी गहना, कपड़ा बर्तन घर, जमीन आदि की संख्या की मर्यादा रखकर शेष का त्याग करना सो परिग्रहपरिमाण नाम का पाँचवाँ अणुव्रत है।।२६।।

दिग्व्रत नामका गुणव्रतः-
परिमाणव्रतं ग्राह्यं दिक्षु सर्वासु सर्वदा।
स्वशक्त्यात्मगुरोः पार्श्वे तदाद्यं स्याद्गुणव्रतं।।

मूलार्थः- गुरु के पास अपनी शक्ति के (प्रयोजन के) अनुसार दशों दिशाओं में जाने आने की मर्यादा करके उससे आगे मरण पर्यंत भी नहीं जाने की प्रतिज्ञा करना सो दिग्व्रत नामका पहिला गुणव्रत है।।२७।।

इयंतींक्ष्मां गमिष्यामि कृतसंख्यां दिशं तथा।
इत्युक्त्वा गम्यते यत्तद् द्वितीयं स्याद्गुणव्रतं।।२८।।

मूलार्थः- आज वा कल तक सप्ताह वा पक्ष, महीना तक इस दिशा में इतनी दूर तक ही जाऊँगा उससे आगे नहीं जाऊँगा इस प्रकार प्रतिज्ञा करना सो दूसरा देशावकाशिक नामा गुणव्रत है।।२८।।

केकिमंडलमार्जारविषशस्त्राग्निरज्जवः।
न दातव्या इमे नित्यं तृतीयं स्याद् गुणव्रतं।।२९।।

मूलार्थः- कुत्ता, बिल्ली, मोर पालै नहीं विष, शस्त्र, अग्नि, रज्जु आदि पाप के कारण न तो मांगे हुये दे, और न बिक्री ही करै सो तीसरा अनर्थदंडव्रत नाम का गुणव्रत है।।२९।।

सामायिक शिक्षाव्रतः-
आर्तं रौद्रं परित्यज्य त्रिषु कालेषु सर्वदा।
वंद्यो भवति सर्वज्ञस्तच्छिक्षाव्रतमादिगं।।३०।

मूलार्थः- आर्त रौद्र ध्यान का त्याग करके नित्य तीन कालों में सर्वज्ञ भगवान् की वंदनादि करना सो सामायिक नामका पहिला शिक्षाव्रत है।३०।।

प्रोषध शिक्षाव्रतः-
चतुर्दश्यामथाष्टम्यां प्रोषधः क्रियते सदा।
शिक्षाव्रतं द्वितीयं स्यान्मुनिमार्गविधानतः।।३१।।

मूलार्थः- प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी के दिन हमेशा प्रोषध करना सो प्रोषध नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है।।३१।।

भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत।
यानभूषणमाल्यानां तांबूलाहारवाससां।।
परिमाणं भवेद्यत्तत्प्राहुः शिक्षाव्रतं बुधाः।।३२।।

मूलार्थः- यान कहिये घोड़ा रथ पालकी वगैरह सवारी, गहने, पुष्पमाला तांबूल **(पानसुपारी आदि) भोजन वस्त्रादि भोग्य उपभोग्य वस्तुओं का नित्य नियम करके शेष का त्याग करना सो भोगोपभोग परिमाण नामका तीसरा शिक्षाव्रत है।।३२।।**

अतिथिसंविभाग-शिक्षाव्रतः-

संविभागोऽतिथीनां च कर्तव्यो निजशक्तितः।
स्वेनोपार्जितवित्तस्य तच्छिक्षाव्रतमंत्यजं।।३३।।

मूलार्थः- स्वयं उपार्जन किये हुये धन में अपनी शक्ति प्रमाण प्रतिदिन अतिथि के लिये भोजन शास्त्र औषधादि का दान करना सो चौथा अतिथिसंविभाग नामका शिक्षाव्रत है।।३३।।

सात शीलव्रतः-

गुणव्रतं त्रिधा प्रोक्तं शिक्षाव्रतचतुष्टयं।
शीलसप्तकमित्येतद्भाषितं मुनिपुंगवैः।।३४।।
अणुव्रतानि यो धत्ते शीलसप्तकमप्यसौ।
व्रतिकः प्रोच्यते सद्भिः सप्तव्यसनवर्जितः।।३५।।

मूलार्थः- उपरि कहे हुये तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रतों को आचार्यों ने सात शीलव्रत कहे हैं।।३४।।

इन शील व्रतों सहित पंचाणुव्रत धारण कर सात व्यसनों का त्याग करने वाले को व्रतिक (श्रावक) कहा जाता है।।३५।।

सप्तव्यसन कौन कौन से हैंः-

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या परदाराभिलोभनं।
मृगया सह चौर्येण स्युः सप्तव्यसनानि च।।३६।।

मूलार्थः- जूवा खेलना १, मांस खाना २, मदिरा पीना ३, वेश्या सेवन ४, परस्त्री सेवन ५, शिकार खेलना ६, चोरी करना ७ ये सात व्यसन हैं।।३६।।

श्रृंगवेरं तथानंगक्रीड़ां विल्वफलं सदा।
पुष्पशाकं च संधानं नवनीतं च वर्जयेत्।।३७।।

मूलार्थः- अद्रक (आदा हरी सौंठ) पुष्प, बेल, फल संधान (मुरब्बा), पत्तों के शाक, मक्खन, अनंग क्रीड़ा इनका भी व्रती श्रावक त्याग करें।।३७।।

मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत्।
मृतांगिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यानान्नसेवनात्।।३८।।

मूलार्थः- भोजन करते समय रक्त राध (पीव) मांस हड्डी आली चाम (चमड़ा) मरा हुआ त्रस जीव दृष्टि पडे तो व्रती श्रावक भोजन करने में अंतराय समझ भोजन करना छोड़ देवें।।३८।।

मौन के लाभः-

मौनाद्भोजनवेलायां ज्ञानस्य विनयो भवेत्।
रक्षणं चाभिमानस्येत्युद्दिशंति मुनीश्वराः।।३९।।

मूलार्थः- श्रावक को भोजन करते समय मौन रखना चाहिये। मौन रखने से ज्ञान की विनय और मान की रक्षा होती है।।३९।।

अक्षरैर्न विना शब्दास्तेऽपि ज्ञानप्रकाशकाः।
तद्रक्षार्थं च षट्स्थाने मौनं श्रीजिनभाषितं।।

मूलार्थः- बिना अक्षरों के शब्द नहीं होते अतः अक्षर भी ज्ञान के प्रकाशक हैं। इस कारण उस ज्ञान की विनय रखने के लिये छह स्थानों में मौन रखना जिनेंद्र भगवान ने कहा है।।४०।।

धर्मं चतुर्विधं प्राहुर्दानपूजादिभेदतः।।

तच्चान्नाभयभैषज्य शास्त्रदानप्रभेदतः।।४१।।

मूलार्थः- धर्म दान, पूजा, शील और पर्व में उपवास के भेद से चार प्रकार का है। और दान अन्दान, अभयदान औषधदान और शास्त्रदान के भेद से चार प्रकार का है।।४१।।

अन्नदानं द्विधा प्रोक्तं पात्रापात्रविभेदतः।
त्रिधा भवति तत्पात्रमुत्तमादिप्रभेदतः।।४२।।

अर्थः- अन्दान दो प्रकार का है। एक पात्रदान दूसरा अपात्रदान। पात्रदान उत्तम, मध्यम,जघन्य भेद से तीन प्रकार का है।।४२।।

महाव्रतानि यः पंच बिभर्त्यत्र सुसंयमः।
निष्कषायो जितानंगः स भवेत्पात्रमुत्तमं।४३।।
यः समः सर्वसत्वेषु स्वाध्यायध्यानतत्परः।
निर्मुक्तः सर्वसंगेभ्यस्तमाहुः पात्रमुत्तमं।।४४।।

मूलार्थः-जो पाँच महाव्रत,निष्काय हो समीचीनसंयम धारण करते हैं,जिन्होंने काम को जीत लिया हैं,समस्त जीवों पर समता भाव रखते हैं,समस्त परिग्रहों से रहित और स्वाध्याय ध्यान में तत्पर रहते हैं वे ही मुनिराज एक उत्तम पात्र होते है।४३-४४।।

सम्यक्त्वव्रतसंपन्नो जिनधर्म प्रकाशकः।
मध्यमं पात्रमित्याहुर्विरताविरतं बुधाः।।४५।।

अर्थः- सम्यक्त्व और व्रतोंकर सहित जैन धर्म की प्रभावना करने वाला पंचम गुणस्थानवर्ती (संयमासंयमी वा एकदेशव्रती) श्रावक ही मध्यम पात्र होता है।।४५।।

केवलं यस्य सम्यक्त्वं विद्यते न पुनर्व्रतं।
तज्जघन्यमिति प्राहुः पात्रं निर्मलबुद्धयः।।४६।।

अर्थः- जो निर्मलबुद्धि सम्यक्त्वी है और एक भी व्रत नहीं पाल सकता ऐसा अव्रतसम्यग्दृष्टि जैन जघन्य पात्र है।।४६।।

व्रतसम्यक्त्वनिर्मुक्तो रागद्वेषसमन्वितः।
सोऽपात्रं भण्यते जैनैर्यो मिथ्यात्वपटाव्रतः।।४७।।

अर्थः- जिसके व्रत सम्यक्त्व दोनों ही न होकर रागी द्वेषी और मिथ्यादृष्टि हो, उसे जिनेंद्र भगवान ने अपात्र कहा है।।४७।।

उप्तं यथोषरक्षेत्रे बीजं भवति निष्फलं।
तथापात्राय यद्दत्तं निष्फलं तन्न संशयः।।४८।।

अर्थः- ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज जिस प्रकार निष्फल होता है उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ दान निष्फल होता है इसमें कोई संशय नहीं।।४८।।

आमपात्रगतं क्षीरं यथा नश्यति तत्समं।
तथा तदप्यपात्रेण समं नश्यति निश्चयः।।४९।।

अर्थः- जिसप्रकार मिट्टी के कच्चे बर्तन में भरा हुआ दूध पात्र सहित नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अपात्र में दिया हुआ दान निश्चय से नाश को प्राप्त होता है।।४९।।

जायते दंदशूकस्य दत्तं क्षीरं तथा विषं।
तथापात्राय यद्दत्तं तद्विषं भोजनं भवेत्।।५०।।

अर्थः- जैसे सर्प को पिलाया दूध विष हो जाता है उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ भोजन भी विष हो जाता है अर्थात् अपात्र को दिया हुआ भोजन अपने को अशुभफल दाता होता है। ।।५०।।

एकमेव जलं यद्वदिक्षौ मधुरतां व्रजेत्।।
निंबे कटुकतां तद्वत्पात्रापात्राय भोजनं।।५१।।

अर्थः- जिस प्रकार एक ही कुये का जल इक्षु की जड़ में गया हुआ तो मीठा रस होता है और नींब के वृक्ष में सिंचा हुआ जल कटुक रस हो जाता है उसी प्रकार पात्र को दिया हुआ दान सुख दायक और अपात्र को दिया हुआ दान दुख दायक होता है।।५१।।

न्यग्रोधस्य यथा बीजं स्तोकं सुक्षेत्र भूमिगं।
बहुविस्तीर्णतां याति तद्वद्दानं सुपात्रगं।।५२।।

अर्थः- जिस प्रकार बड़का छोटा सा बीज अच्छी जगह में बोया हुआ बड़े विस्तृत वृक्षको उत्पन्न करता है उसी प्रकार सुपात्र में दिया हुआ दान महाफल का दाता है।।५२।।

सौधर्मादिककल्पेषु भुंजते स्वेप्सितं सुखं।
मानवाः पात्रदानेन मनोवाक्कायशुद्धितः।।५३।।

अर्थः- जो मन वचन तन को शुद्ध करके सत्पात्र में दान देते हैं उसके फल से वे मनुष्य सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देव उत्पन्न होकर मनवांछित भोग भोगते हैं।।५३।।

हंसतूलिकयोर्मध्ये जीवः संक्राम्यते क्षणात्।
कुमारोंतर्मुहूर्तेन भूत्वा षोढशवर्षगः।।५४।।

अर्थः- स्वर्गों में जो जीव जाता है वह अंतर्मुहूर्त में हंस के समान श्वेत शैया में से सोलह वर्ष का सा युवक देव होकर उठता है।।५४।।

रत्ननिर्मितहर्म्येषु दिव्यशय्यासु सर्वदा।
भुंजते सुरकन्याभिः स्वयं स्वर्गेऽमराः सुखं।।५५।।

अर्थः- स्वर्गों के देव रत्नों से बने हुये महलों में सुन्दर दिव्य शय्या पर अप्सराओं के साथ सुख (भोग) भोगते हैं।।५५।।

दिव्यदेहप्रभावर्ताः सप्तधातुविवर्जिताः।।
गर्भोत्पत्तिर्न तत्रनास्ति दिव्यदेहास्ततो मताः।।५६।।

अर्थः- जिनके देह की प्रभा विस्तृत है, जिनकी देह सप्त धातु रहित होती है, जिनका जन्म गर्भ से नहीं होता इस कारण देवों को दिव्य देही (दिव्यशरीर) कहते हैं।

तस्मादत्रेत्य जायंते चक्रिणो वार्द्धचक्रिणः।
इक्ष्वाक्कादिषु वंशेषु पात्रदानबलान्नराः।।५७।।

अर्थः- स्वर्ग से चयकर मध्यलोक में इक्ष्वाकु आदि उत्तम वंशों में चक्री (नारायण प्रतिनारायण) आदि पुरुषोत्तम पात्रदान के फल से ही होते हैं।।५७।।

मिथ्यादृशोऽपि दानं ते दत्वा पात्राय भुंजते।
दशांगकल्पवृक्षेभ्यः सत्सुखं भोगभूमिषु।।५८।।

अर्थः- यदि मिथ्यादृष्टि जीव भी पात्रदान करें तो भोगभूमि में जन्म लेकर वहाँ पर दशांग कल्पवृक्षों से मन वांछित सुख भोगते हैं।।५८।।

स्रग्वस्त्रपानतूर्यांगा भूषणाहारगेहदाः।
ज्योतिर्भाजनदीपांगादशांगाःकल्पपादपाः।।५९।।

अर्थः- माला, वस्त्र, पेय, बाजे, भूषण, भोजन, घर, ज्योति, बर्तन, दीप ऐसे **दशप्रकार की वस्तु प्रदान करने वाले दश जाति के कल्पवृक्ष हैं।।५९।।**

केचित्कुपात्रदानेन कर्णप्रावरणादिषु।
भोगभूमिषु कुत्सासु जायंते ते कुमानवाः।।

अर्थः- कुपात्र को दान देने से कोई जीव कुभोगभूमियों में जाकर कान आदि अंगों से तथा वस्त्रालंकारादि से रहित कुत्सित मनुष्य होते हैं।।६०।।

खर्जूरं पिंडखर्जूरं कदलीशर्करोपमान्।
मृदिक्ष्वादिकभोगांश्च भुंजते नात्र संशयः।।६१।।

अर्थः- उन कुभोगभूमियों में मनुष्य खजूर पिंडखजूर केले तथा शर्करा (चीनी खांड) के समान मिट्टी तथा ईख (सांठे) आदि को खाते पीते हैं।।६१।।

ततः कुत्सितदेवेषु जायंते पापपाकतः।
ततः संसारगर्त्तेषु पंचधा भ्रमणं सदा।।६२।।

अर्थः- उन कुभोग भूमियों से निकल कर वे कुत्सित (भवनत्रिक) देवों में उपजते हैं। और देवयोनि से निकल पापों के फल से संसार रूपी गड्डे अर्थात् संसाररूपी समुद्र में पाँच प्रकार से भ्रमण करते रहते हैं।

विहाय कुत्सितं पात्रं तस्मात्पात्रेषु योजयेत्।।
आहारं भक्तिपूर्वेण श्रद्धादिगुणसंयुतः।।६३।।

अर्थः- इस कारण श्रद्धा भक्ति आदि दाता के गुणों को धारण करने वाला गृहस्थ कुपात्रों को छोड़कर सुपात्रों को ही दान दिया करे ।६३।।

श्रद्धा भक्तिरलोभत्वं दयाशक्तिक्षमान्विताः।
विज्ञानं चेति सप्तेति गुणा दातुः प्रकीर्त्तिताः।।६४।।

अर्थः- श्रद्धा, भक्ति, अलोभता, दया, शक्ति, क्षमा और विज्ञान (वा विनय) ये दानी गृहस्थ के सात गुण हैं। इन गुणोंसहित ही दाता को होना चाहिये।।६४।।

पात्र की नवधाभक्ति-

प्रतिग्रहोन्नतस्थानं पादप्रक्षालनार्चनं।
नमस्त्रिविधियुक्तेन एषणा नवपुण्यवाक्।।६५।।

अर्थः- पडगाहना १, उच्चस्थान पर बिठाना २, पाँव धोना ३, पूजा करना ४, नमस्कार करना ५, मनवचन काय की शुद्धि और भोजनशुद्धि ये नव पुण्यवाक् वा भक्ति हैं।।६५।।

विधेयं सर्वदा दानमभयं सर्वदेहिनां।।
यतोऽन्यस्मिन्भवे जीवो निर्भयोऽभयदानतः।।६६।।

अर्थः- समस्त जीवों को हमेशा अभयदान देना चाहिये। अभयदान के फल से यह जीव अगले भव में निर्भय हो जाता है।।६६।।

रोगिभ्यो भैषजं देयं रोगा देहविनाशकाः।
देहनाशे कुतो ज्ञानं ज्ञानाभावे न निर्वृतिः।।६७।।

तस्मात्स्वशक्तितो दानं भैषज्यं मोक्षहेतवे।
देयं स्वयं भवेऽन्यस्मिन्भवेद् व्याधिविवर्जितः।।६८।।

अर्थः- रोगियों के लिये औषध का दान करें क्योंकि रोग शरीर को नष्ट कर देते हैं। शरीर नष्ट हो जाय तब ज्ञान कैसे हों? ज्ञान के अभाव में मुक्ति नहिं हो सकती, इस कारण यथाशक्ति औषध का दान करना चाहिये क्योंकि इस स्थान

पर औषधिदान ही मुक्ति का परंपरा से कारण बन जाता है। इसके सिवाय औषधिदान करने वाला अगले जन्म में रोगरहित शरीर पाता है।। ६८।।

लिखित्वा लेखयित्वा वा साधुभ्यो दीयते श्रुतं।
व्याख्यायतेऽथवा स्वेन शास्त्रदानं तदुच्यते।।६९।।

अर्थः- लिखकर अथवा लिखवाकर साधुओं के लिए (सज्जन पुरुषों के लिए) शास्त्र दान करें। अथवा स्वयं व्याख्यान करें (दूसरों को व्याख्यान देकर सुनावें या पढावें) उसे शास्त्रदान (विद्यादान वा ज्ञानदान) कहते हैं।।६९।।

अपरस्मिन्भवे जीवो बिभर्ति सकलं श्रुतं।।
मोक्षसौख्यमवाप्नोति शास्त्रदानफलान्नरः।।७०।।

अर्थः- शास्त्रदान के फल से मनुष्य अगले भव में समस्त शास्त्रों का ज्ञाता पंडित होता है। और परंपरा से मुक्ति के अनुपम सुख को पाता है।।७०।।

ज्ञानवान्ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखीनित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत्।।७१।।

अर्थः- मनुष्य ज्ञानदान करने से अगले भव में ज्ञानवान् अभयदान से निर्भय, अन्नदान से सदा सुखी और औषधि दान से निरोगी होता है।।७१।।

नामादिभिश्चतुर्भेदैर्जिनसंहितया पुनः।
यंत्रमंत्रक्रमेणैव स्थापयित्वा जिनाकृतिं।।७२।।

स्वर्णचंदनपाषाणैश्चतुरंगुलमानकं।
कारयित्वा जिनं भक्त्या प्रत्यहं पूजयंति ये।।७३।।

सुरलोकसुखं भुक्त्वा पश्चान्मंदरपर्वते।।
सुरपूजां ततो लब्ध्वा निर्वृतिं यांति ते नराः।।७४।।

अर्थः- नाम स्थापना द्रव्य भाव तथा संहिता के (प्रतिष्ठा पाठके) यंत्र मंत्रों के क्रम से भगवान की प्रतिमा प्रतिष्ठापूर्वक स्थापन करके नित्य ही पूजन करें।।७२।।

स्वर्ण चंदन काष्ठ वा पाषाण की कम से कम चार अंगुल की भी जिनप्रतिमा बनवाकर (प्रतिष्ठा कराकर) जो प्रतिदिन पूजा करते हैं वे मनुष्य (पुरुष वा स्त्री) स्वर्ग लोक के सुख भोग कर तत्पश्चात् सुमेरु गिरिपर देवेंद्रों से पूजा पाकर शेष में सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।।७३-७४।।

येनाकारेण मुक्तात्मा शुक्लध्यानप्रभावतः।
तेनायं श्रीजिनो देवो बिंबाकारेण पूज्यते।।७५।।

अर्थः- शुक्लध्यान को धारण करके मुक्तात्मा जिस आकार से (खड्गासन वा पद्मासन से) मुक्ति में पधारे हैं वा विराजे हैं, उसी आकार का प्रतिबिंब बनाकर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की जाती है।।७५।।

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनं।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनं।।७६।।

अर्थः- यद्यपि जिनेंद्र भगवान् पास में नहीं हैं तो भी उनकी प्रतिमा की पूजा करना पुण्यदायक है। क्योंकि सर्प के मंत्र प्रयोग के समय धारण की हुई गरुड़ मुद्रा क्या सर्प विष की शक्ति को नष्ट नहीं करती? अवश्य करती है।।७६।।

जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासयोगेन तत्रैवाभ्यस्यते पुनः।।७७।।

अर्थः- जो जीव पहिले के जन्म में दान पूजा अध्ययनादि तप करते हैं वे ही जीव इस

मनुष्य भव में उसी अभ्यास के वश होकर उसी तरह दानाध्ययन तपादिक आचरण करते हैं।।७७।।

शील धर्म का वर्णन

यद् गृहीतं व्रतं पूर्वं साक्षीकृत्य जिनान्गुरून्।
तद्व्रताखंडनं शीलमिति प्राहुर्मुनीश्वराः।।७८।।

अर्थः- जिनेंद्र भगवान् वा गुरू की साक्षी में जो जो व्रत पहिले ग्रहण किये हैं, उनको खंडित नहिं करके निरतिचार पालना उसे आचार्यों ने 'शील' धर्म कहा है।।७८।।

यांति शीलवतां पुंसां वश्यतां दुष्टमानवाः।
अत्युग्रा अपि तिर्यंचः क्षुद्रोपद्रवकारिणः।।७९।।

अर्थः- दुष्ट मनुष्य, भयंकर पशु और क्षुद्र उपद्रव करने वाले अन्यान्य जीव शीलधारक पुरुषों के वश हो जाते हैं।।७९।।

तप (उपवास) धर्म का वर्णनः-

उपवासो विधातव्यः पंचम्यादिषु पर्वसु।
श्रेयोर्थं प्राणिभिर्भव्यैस्त्रिशुद्ध्या निजशक्तितः।।८०।।
तेन नश्यंति कर्माणि संचितानि पुरात्मना।
नष्टकर्मा ततः सिद्धिं प्रयात्यत्र न संशयः।।८१।।

अर्थः- भव्य जीवों को चाहिये कि पंचमी आदि विशेष पर्वों में कर्मनिर्जरा के अर्थ मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक उपवास करें।।८०।। क्योंकि इन विशेष उपवासों से पूर्व जन्मों में संचित किये हुये कर्म नष्ट हो जाते हैं, वे ही जीव सिद्धि को (मुक्ति को) प्राप्त होते हैं इस विषय में कुछ भी संशय नहीं।।८१।।

रात्रि भोजनत्याग वर्णनः-

पिपीलिकादयो जीवा न लक्ष्यंते यतो निशि।
गिल्यंते भोक्तृभिर्जीवैस्ते पुनः कवलैः समं।८२।।

अर्थः- पिपीलिकादि सूक्ष्मजीव रात्रि में दिखते नहीं इस कारण रात्रि में भोजन करने वाले उन जीवों को खा जाते हैं। उनकी हिंसा का पाप लगने के सिवाय वे जीव शरीर में रोग भी उत्पन्न करते हैं इस कारण रात्रि भोजन का त्याग अवश्य करना चाहिये।।८२।।

स्फुटतांघ्रिकरादीनां ये काष्ठत्रणवाहकाः।
कुचेला दुष्कुलाः संति ते रात्र्याहार सेवनात्।।८३।।

अर्थः- जिनके हाथ पांव टूटे हुये हैं, दीन होकर घास लकडियों का भार ढोते हैं, जिनको पहनने को वस्त्र नहीं और हैं तो फटे पुराने हैं और नीच कुल में उत्पन्न हैं वे सब रात्रि भोजन के फल से ही होते हैं।।८३।।

सुखरा निर्मलांगाश्च दिव्यवस्त्र विभूषणाः।।
जायंते ये नराः पूर्वं त्यक्तं तैर्निशिभोजनं।।८४।।

अर्थः- जिनका स्वर उत्तम है, शरीर निर्मल है, उत्तम वस्त्रालंकार पहनते हैं, वे सब पूर्व जन्म में निशाहार त्याग करने के फल से ही उत्तम होते हैं।।८४।।

रात्रिभुक्तिफलान्मर्त्या जायंते व्याधिपीड़िताः।
दासा भृत्याः परेषां च खबंधुजनवर्जिताः।।८५।।

अर्थः- रात्रि भोजन करने के पाप से मनुष्य रोगी, पर के दास, भाई बंधु रहित बड़े दुःखी होते हैं।।८५।।

आरुह्य मत्तमातंगान्वीज्यमानाः सुचामरैः।
ये यांति स्वजनैः सार्द्धं ते निशाहारवर्जनात्।।८६।।

अर्थः- जो अपने भाई बंधुओं सहित मत्त हाथियों पर चढे हुये चमर ढुलाते हुये दिखते हैं वे पूर्व जन्म में रात्रि भोजन त्याग किया था उसी के फल को भोगते हैं।८६।।

याः परेषां गृहे दास्यो याः पुत्रपरिवर्जिताः।
या दौर्भाग्यग्रहग्रस्तास्ता निशाहारभुक्तितः।।८७।।

अर्थः- जो दूसरों के घर दासी हों, जिनको पुत्र नहीं और जिनको दुर्भाग्य ग्रह ने ग्रस लिया है ऐसी स्त्रियाँ भी रात्रि भोजन पाप के फल से ही होती हैं।।८७।।

लीलया योषितो यांति या यानगजवाजिषु।
वसंति दिव्यहर्म्येषु ता रात्र्याहारवर्जनात्।।८८।।

अर्थः- जो स्त्रियाँ हाथी वा घोड़ों के रथ या पालखी में बैठकर गमनागमन करती हैं और सुंदर दिव्य महलों में रहती हैं उन सबने पूर्व जन्म में रात्रि भोजन त्याग किया था उसका ही वह पुण्य फल समझो।।८८।।

दृश्यंते मर्त्यलोकेऽस्मिन्सुंदरा ये नराधिपाः।।
रात्र्यभुक्तिफलं सर्वं तदेव हि न संशयः।।८९।।

अर्थः- इस मर्त्यलोक में जो सुंदर राजा लोग दृष्टि पड़ते हैं वे सब रात्रिभोजन त्याग के पुण्य से ही ऐसे हुये हैं।

यथा चंद्रं विना रात्रिः कमलेन विना सरः।
तथा न शोभते जीवो विना धर्मेण सर्वथा।।९०।।

अर्थः- जिस प्रकार चंद्रमा बिना रात्रि, कमलों के बिना तालाब कभी शोभा नहीं पाता उसी प्रकार यह मनुष्य भी धर्म के बिना कभी भी शोभा नहीं पाता।।९०।।

अद्यः श्वो वा परस्मिन्वा दिने धर्मं करोम्यहं।
चिंतयंति जना एवं क्षणं न सहते यमः।।९१।।

अर्थः- मैं आज नहीं तो कल वा परसों अवश्य ही धर्माचरण धारण करूँगा इस प्रकार अनेक जन विचार करते रहते हैं परंतु मृत्यु तो क्षणभर भी धीरज नहीं धरता इसका विचार कोई नहीं करते।।९१।।

दावाग्निः शुष्कमार्द्रं वा काष्ठं न त्यजति ध्रुवं।
यथा तथा यमो लोके बालं वृद्धं च यौवनं।।९२।।

अर्थः- जिस प्रकार दावाग्नि (वन में लगी हुई अग्नि) शुष्क और गीले वृक्षादि को जला देती है, उसी प्रकार यमराज (मृत्यु) बालक वृद्ध जवान किसी को भी नहीं छोड़ता।।९२।।

वृक्षा दावाग्निना लग्नास्तत्सख्यं कुर्वते वने।
आत्मारूढ़तरोरग्निमागच्छंतं न वेत्त्यसौ।।९३।।

अन्यस्यान्यः समाख्याती मृतोऽद्य दिवसेऽमुकः।
एवं स किं न जानाति ममाप्येति यमः क्वचित्।।९४।।

अर्थः- जिस प्रकार कोई मनुष्य दावाग्नि से जलते हुये वृक्षों से तो सहानुभूति दिखलाता है परंतु जिस वृक्ष पर खुद चढ़ा हुआ है उसके पास भी अग्नि जलाने को निकट आ रही है उसकी तरफ दृष्टि भी नहीं करता।।९३।। तथा जिस प्रकार एक मनुष्य अन्यों के प्रति कहता है कि आज अमुक मनुष्य मर गया, परंतु वह यह नहीं जानता कि मैं भी एक दिन इसी प्रकार मर जाऊँगा।

शरीरमंडनं शीलं स्वर्णं खेदावहं तनोः।।
रोगो वक्त्रस्य तांबूलं सत्येनैवोज्ज्वलं मुखं।।९५।।

अर्थः- शरीर का अलंकार सुवर्ण नहिं किंतु शील ही है इसी प्रकार मुख का मंडन सत्य वचन बोलना ही है तांबूल (पान) खाने से मुख की शोभा नहीं करता, रोग ही बढ़ाता है।

कालक्षेपो न कर्तव्य आयुः क्षीणे दिने दिने।
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः।।९६।।

अर्थः- अब व्यर्थ ही कालक्षेप करना ठीक नहीं क्योंकि आयु क्षण क्षण में बीती जाती है। इस कारण धर्म को शीघ्र ही धारण करना चाहिये।।९६।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः।।९७।।

अर्थः- शरीर अनित्य है, विभव भी शाश्वत नहीं रहता, मृत्यु शिरपर मंडरा (घेरा दे) रही है इस कारण धर्म का संग्रह शीघ्र ही करना चाहिये।।९७।।

जीवंतं मृतकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितं
ना धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी भविष्यति।।९८।।

आचार्य महाराज कहते हैं कि जो धर्मरहित हैं मैं उन को जीते हैं तो भी मरे हुये ही मानता हूँ। और जो धर्मसहित होकर मर गया उसे मैं दीर्घजीवी मानता हूँ।।९८।।

श्री पूज्यपाद देवनंदिकृत श्रावकाचार की हिंदी अनुबंध टीका समाप्त।
लेखकपाठकानां श्रीरस्तु कल्याणमस्तु।।

न्यायावतार

श्रीमदाचार्य सिद्धसेन दिवाकर

(श्री कुमुदचन्द्राचार्य)विरचित

प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च, द्विधा मेयविनिश्चयात्।।१।।

अर्थः- जो प्रमाण है वह स्वपराभासि, बाधाविवर्जित ज्ञान ही हो सकता है (पहले वाक्य में प्रमाण 'उद्देश्य' है और ज्ञान विधेय तथा दूसरे वाक्य में ज्ञान 'उद्देश्य' है और प्रमाण विधेय)।

प्रमेय के दो प्रकार होने से प्रमाण भी दो प्रकार है- १. प्रत्यक्ष, २. परोक्ष।

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम्।।२।।

अर्थः- ये दोनों प्रकार के प्रमाण अनादि काल से चले आ रहे हैं, यह सब जनों को प्रसिद्ध है। इनके द्वारा प्रचलित जलपान, शीतत्राण आदि व्यवहार भी अनादिरूढ़ है, तब इनके लक्षण कहने से आपका क्या प्रयोजन है? यह समझ नहीं आता।

प्रसिद्धानां प्रमाणानां लक्षणोक्तौ प्रयोजनम्।
तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद्व्यामूढ़मनसामिह।।३।।

अर्थः- यदि अनादि प्रसिद्ध प्रमाण लक्षण में किसी को व्यामोह न हुआ हो तो आपने पहले प्रमाण लक्षण का कहना निरर्थक है, ऐसा कहा था, यह युक्त ही होता। लेकिन ऐसा है नहीं, प्रमाण के लक्षण की मान्यता में बहुत से व्यक्ति व्यामूढ़ (अज्ञानी) भी देखे जाते हैं।

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं, परोक्षं ग्रहणेक्षया।।४।।

अर्थः- साक्षात् रूप से जो ज्ञान बाह्यार्थ की अपेक्षा से अर्थ का ग्राहक है वह प्रत्यक्ष है और

इससे विपरीत परोक्ष जानना चाहिये।

साध्याविनाभुनो लिंगात्साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्।।५।।

अर्थः- साध्य के बिना न होने वाले लिंग से साध्य का निश्चय कराने वाला जो ज्ञान है उसे अनुमान कहा है यह अनुमान अभ्रान्त है, प्रमाण होने से प्रत्यक्ष की तरह।

न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात्।
भ्रान्तं प्रमाणीमत्येतद्विरुद्धं वचनं यतः।।६।।

अर्थः- 'दूसरों के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष भ्रान्त है' ऐसा कहने वाले ज्ञानाद्वैतवादी (योगाचार) बौद्ध का निराकरण।

सकलप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वासिद्धितः स्फुटम्।
प्रमाणं स्वान्यनिश्चायि, द्वयसिद्धौ प्रसिद्ध्यति।।७।।

अर्थः- १. सकल ज्ञानों के भ्रान्तत्व की असिद्धि।
२. स्व परव्यवसायी ज्ञान ही प्रमाण होता है ऐसा निगमन
३. 'प्रमाण' स्वीकार करने वाले को 'अर्थ' भी स्वीकार करना चाहिये समर्थन।
समस्त ज्ञानों के भ्रान्त न सिद्ध होने से, साफ-साफ और स्व और अन्य का निश्चायी है वह प्रमाण है और वह प्रमाण स्वरूप (ज्ञान) और अर्थ, दोनों के ही सिद्ध होने पर होता है।

दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम्।।८।।

अर्थः- 'प्रमाण से निश्चित अर्थ से अबाधित, परम (विशिष्ट) अर्थ के कहने या दिखाने वाले वाक्य से तत्वग्राही रूप से जो प्रमाण उत्पन्न हुआ है उसे 'शाब्द' कहा गया है।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।।९।।
शास्त्रजन्य शाब्दप्रमाण का लक्षण दिया है।
स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः।।१०।।

अर्थः- अपने समान दूसरों को भी निश्चय कराना इसको विद्वानों ने 'परार्थ' कहा है ज्ञान के उपचार से वाक्य को भी प्रमाण कहा है।

प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थ प्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि।।११।।

अर्थः- अनुमान की तरह प्रत्यक्ष से भी अर्थ का प्रकाशन होता है और दोनों ही पर के प्रत्यायन - समझाने में कारण हैं अतः दोनों ही परार्थत्व हैं।

प्रत्यक्षप्रतिपन्नार्थप्रतिपादि च यद्वचः।
प्रत्यक्षं प्रतिभासस्य निमित्तत्वात्तदुच्यते।।१२।।

अर्थः- जो वचन (शब्द) प्रत्यक्ष से जाने हुए अर्थ का प्रतिपादन करने वाला है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है क्योंकि वह प्रतिपाद्य के प्रत्यक्ष प्रतिभास का कारण होता है।

साध्यविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्।
परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम्।।१३।।

अर्थः- साध्य के बिना नहीं होने वाले हेतु का जो वचन प्रतिपादक है वह परार्थ अनुमान है और वह अनुमान पक्षादि-वचनात्मक है।

साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।
तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः।।१४।।

अर्थः- प्रत्यक्ष आदि से जिसका निराकरण न हो सके ऐसे साध्य का स्वीकार करना पक्ष है उस पक्ष का प्रयोग परार्थानुमान में करना चाहिये क्योंकि वह हेतु के विषय का दीपक है।

अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः।
प्रत्यायस्य भवेद्धेतु विरुद्धरेकितो यथा।।१५।।
धानुष्कगुणसंप्रेक्षिजनस्य परिविध्यतः।
धानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरौ।।१६।।

अर्थः- पक्ष का प्रयोग न करने पर वादी को हेतु का कौन सा विषय अभिमत है इस विषय में प्रतिवादी का हेतु विरोध की शंका से विपरीत हो जायेगा जैसे लक्ष्य निर्देश के बिना बाण फेंकने वाले धानुष्क के जो गुण-दोष है वह उसको देखने वाले मनुष्य को विपरीत भी अर्थात् गुण, दोष रूप व दोष, गुण रूप मालूम पड़ते हैं।

हेतोस्तथोपपत्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्य सिद्धिर्भवेदिति।।१७।।

अर्थः- तथोपपत्ति- साध्य के सद्भाव में ही होना तथा अन्यथानुपपत्ति- साध्य के अभाव में नहीं होना, इन दो रूप से हेतु दो प्रकार का प्रयोग होता है। दोनों में से किसी एक द्वारा भी साध्य की सिद्धि हो सकती है।

साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम्।
साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्मतः।।१८।।

अर्थः- साधन, साध्य के बिना नहीं होता है इस रूप साध्य और साधन की व्याप्ति जिसमें अच्छी तरह से निर्णीत हो जाती है वह साधर्म्यदृष्टान्त है और वह सम्बन्ध के स्मरण के लिये माना गया है।

साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसम्भवः।
ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः।।१९।।

अर्थः- साध्य के निवर्तमान (अभाव) होने पर साधन का भी असंभव जहाँ कहा जाता है वह वैधर्म्यदृष्टान्त है।

अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिरुदाहतिः।
व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः।।२०।।

अर्थः- साधन का साध्य के साथ घिरा हुआ होना ही साध्य की सिद्धि हो जाने से दृष्टांत रूप धर्मी में दर्शन रूप उदाहरण व्यर्थ है। जब संबंध अग्रहीत है, तब भी अन्तर्व्याप्ति न होने से बाह्य उदाहरण व्यर्थ है, ऐसा न्याय के जानने वाले कहते हैं।

प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्षलिंगतः।
लोकस्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकथा मतः।।२१।।

अर्थः- प्रतिपाद्य, अर्थात् प्रतिवादी के जो सिद्ध है वह पहला पक्षाभास है दूसरे पक्षाभास प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित है। इस प्रकार पक्षाभास अनेक प्रकार का माना गया है।

अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।
तदप्रतीतिसंदेह विपर्यासैस्तदामता।।२२।।

अर्थः- हेतु का लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व साध्य के बिना उत्पन्न नहीं होना कहा । उस अन्यथानुपपन्नत्व की अप्रतीति अनध्यवसाय, संदेह, विपरीतता के द्वारा हेत्वाभास कहा

असिद्धस्त्व प्रतीतो यो, योऽन्यर्थैवोपपद्यते।
विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु।।२३।

अर्थः- जो अन्यथानुपपन्नत्व से अप्रतीत है वह असिद्ध है। जो साध्य के बिना ही अर्थात् विपक्ष में उत्पन्न होता है वह विरुद्ध हेत्वाभास है और जो साध्य तथा साध्यविपर्यय दोनों

से युक्त होता है वह अनैकान्तिक है।

साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः।
अपलक्षणहेतूत्याः साध्यादि विकलादयः।।२४।।

अर्थः- जिसमें लक्षण नहीं है ऐसे हेतुओं से उत्पन्न साध्य आदि से विकल आदिक साधर्म्य से दृष्टान्त के दोष अर्थात् दृष्टान्ताभास विद्वानों ने बताये हैं।

वैधर्म्येणात्र दृष्टान्त दोषा न्यायविदीरिताः।
साहृध्यसाधनयुग्मानामनिवृतेश्च संशयात्।।२५।।

अर्थः- साध्य, साधन और उभय इन दोनों की निवृत्तिअभाव न बनने से तथा इसमें संशय होने से इस स्थल में वैधर्म्य से दृष्टान्त के दोष विद्वानों ने कहे हैं।

वाधुक्ते साधने प्रोक्तदोषाणामुद्भावनम्।
दूषणं निरवद्ये तु दूषणाभासनामकम्।।२६।।

अर्थः- वादी जब साधन रूप से साधनाभास का प्रयोग करे तब उससे पहले कहे गये जो प्रत्यक्ष आदि से निराकृत पक्ष, असिद्ध आदि हेतु, साध्य आदि से विकल दृष्टान्त दोष, उनका प्राश्निकों के आगे प्रकट करना वह तो दूषण है और वादी ने सम्यक् साधन का प्रयोग किया तब उसमें डाह आदि के कारण उक्त दूषण निकालना दूषणाभास है।

सकलावरणमुक्तात्मकेवलं यत्प्रकाशते।
प्रत्यक्षं सकलार्थात्मसततप्रतिभासनम्।।२७।।

अर्थः- सकल आवरण से रहित हो करके और सकल वस्तुओं के स्वरूप को सतत प्रतिभासित करने वाला जो केवल अर्थात् ज्ञानान्तर से निरपेक्ष होकर ज्ञान प्रकाशित होता है वह परमार्थ से प्रत्यक्ष है।

प्रमाता स्वान्यनिर्भासी कर्ता भोक्ता विवृत्तिमान्।

स्वसंवेदनसंसिद्धो जीवः क्षित्याद्यनात्मकः।।३१।।

अर्थः- जीव १. प्रमाता, अर्थात प्रमेय का परिच्छेदक (ज्ञाता) है। २. स्वस्वरूप का और अर्थ का प्रकाशक है। ३. कर्ता है।, ४. भोक्ता है, ५. परिणमनशील है।, ६. स्वसंवेदन से अच्छी तरह सिद्ध है और ७. पंचभूतात्मक नहीं हैं।

प्रमाणादित्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।
सर्वसंव्यवहर्तृणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता।।३२।।

अर्थः- यह प्रमाण आदि की व्यवस्था यद्यपि अनादिनिधनात्मिका है और सर्व व्यवहार करने वालों को मालूम भी है, फिर भी हमने उसे कहा है।

लघु द्रव्य संग्रह

**छद्दव पंच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ।।१।।**

अर्थः- जिन्होंने (जिनेंद्र भगवान ने) छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थ का तथा उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य का कथन किया है, वे जिनेन्द्र भगवान सदैव जयवंत होवें।।१।।

**जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य।
दव्वाणि कालरहिया पदेस बहुल्लदो अत्थिकाया य।।२।।**

अर्थः- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये छह द्रव्य हैं काल को छोड़कर शेष पाँच बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहलाते हैं।।२।।

**जीवाजीवासवबंध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण पावा पयत्था य।।३।।**

अर्थः- जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष ये सात तत्त्व हैं, इनमें पुण्य और पाप जोड़ देने से ये नौ पदार्थ होते हैं।।३।।

**जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा।।४।।**

अर्थः- जीव वह है (जो तीन कालों में जीता है) स्वभाव की अपेक्षा अमूर्तिक है, स्वदेह प्रमाण है, चेतना से युक्त है, कर्मों का कर्ता है, उनके फलों का भोक्ता है, वह जीव पुनः दो प्रकार का है सिद्ध और संसारी। उनमें से संसारी जीव के अनेक भेद होते हैं।।४।।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्महणं जीवमणिदिट्ठ सट्ठाणं।।५।।

अर्थः- रस से रहित, रूप से रहित, गंध से रहित, चेतना गुण से संयुक्त, शब्द से रहित, इन्द्रियादि (चिन्हों) से रहित एवं आकार से रहित जीव को जानो।।५।।

वण्ण रस गंध फासा विज्जंते जस्स जिणवरुदद्दिट्ठा।
मुत्तो पुग्गल काओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा।।६।।

अर्थः- वर्ण, रस, गंध, स्पर्श जिनमें विद्यमान हैं उसको जिनेन्द्र भगवान ने पुद्गल द्रव्य कहा है, वह मूर्तिक होता है उसके पृथिवी आदि छः भेद होते हैं।।६।।

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू।
छव्विह भेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं।।७।।

अर्थः- १. पृथिवी (स्थूल-स्थूल) २. जल (स्थूल) ३. छाया (स्थूल-सूक्ष्म) ४. चतुरिन्द्रिय के विषय (सूक्ष्म-स्थूल) ५. कर्म (सूक्ष्म) ६. परमाणु (सूक्ष्म-सूक्ष्म) ये पुद्गल के छह भेद जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं।।७।।

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गल जीवाण गमण सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।।८।।

अर्थः- चलते हुये जीव और पुद्गलों को जो चलाने में सहकारी कारण है, वह धर्म द्रव्य कहलाता है। जिस प्रकार चलती हुई मछली के लिये जल सहकारी होता है।।८।।

ठाणजुदाणअधम्मो पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।।९।।

अर्थः- ठहरे हुये जीव और पुद्गलों को जो ठहराने में सहकारी कारण होता है वह

अधर्म द्रव्य कहलाता है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया, ठहरने वाले व्यक्ति के ठहरने में सहकारी कारण होती है।।९।।

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं।।१०।।

अर्थः- जो जीवादि समस्त पदार्थ को अवकाश देने में समर्थ कारण है वह आकाश द्रव्य जानो, उसके लोकाकाश व अलोकाकाश की अपेक्षा से जिनेन्द्र भगवान ने दो भेद कहे हैं।।१०।।

दव्वपरिवट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
लोगागासपएसो एक्केक्काणु य परमट्ठो।।११।।

अर्थः- द्रव्यों के परिवर्तन में जो निमित्त कारण है वह काल द्रव्य है, परिवर्तन के कारण रूप (घड़ी, घण्टा, दिन, मास, वर्ष आदि) व्यवहार काल है तथा लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान एक-एक कालाणु निश्चय काल द्रव्य है।।११।।

लोयायासपदेसे एक्किक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि।।१२।।

अर्थः- लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह से पृथक्-पृथक् जो कालाणु विद्यमान है वह काल द्रव्य है वे काल द्रव्य असंख्यात होते हैं।।१२।।

संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले।।१३।।

अर्थः- एक जीव में असंख्यात प्रदेश होते हैं, धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश होते हैं, आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी है, पुद्गल संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेशी होता है, काल द्रव्य के कोई प्रदेश नहीं होते वह एक प्रदेशी है, इसलिये वह मात्र अस्ति रूप है काय नहीं।।१३।।

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्टब्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं।।१४।।

अर्थः- आकाश के जितने हिस्से को एक अविभागी पुद्गल परमाणु घेरता है उसे एक प्रदेश जानो वह सर्व अणु को स्थान देने में भी समर्थ होता है।।१४।।

जीवो णाणी पुग्गलधम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो।।१५।।

अर्थः- जीव में ज्ञान दर्शन (चेतन शक्ति) है, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये सभी (चैतन्य शक्ति से रहित) अजीव द्रव्य हैं जो ऐसा नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है।।१५।।

मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो बंधो।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं।।१६।।

अर्थः- मिथ्यात्व, हिंसादि पाप, कषाय, योग इनके माध्यम से आश्रव और बंध होता है, कषाय सहित जीव विविध प्रकार की पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं को परिग्रहण करता है।।१६।।

मिच्छत्ताइचारो संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे।
कम्माणखओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओय।।१७।।

अर्थः- मिथ्यात्वादि (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग) का त्याग करने से संवर तत्त्व की प्राप्ति होती है, पूर्व बद्ध कर्मों का एक देश क्षय होना निर्जरा कहलाती है, वह निर्जरा सविपाक व अविपाक के भेद से दो प्रकार की है।।१७।।

कम्म बंधण बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पण्णो।
सकम्म विणिमुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो।।१८।।

अर्थः- कर्मों के बंधन से बंधा हुआ जीव अंतरात्मा होकर के जब कर्मों के बंधन को नष्ट कर देता है तब वह मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।।१८।।

सादाऽऽउणाम गोदाणं पउडीओ सुहा हवे।
पुण्ण तित्थयरादी अण्णं पावं तु आगमे।।१९।।

अर्थः- साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र और तीर्थंकर प्रकृति ये पुण्य प्रकृति कहलाती हैं इसके अतिरिक्त (असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीचगोत्र एवं घातिया कर्म की सभी) शेष सभी पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं।।१९।।

णासइ णर पज्जाओ उप्पज्जइ देव पज्जओ तत्थ।
जीवो स एव सव्वस्स भंगुप्पाया धुवा एवं।।२०।।

अर्थः- मनुष्य पर्याय का विनाश देव पर्याय की उत्पत्ति व आत्मा का दोनों पर्यायों में रहना, ये क्रमशः व्यय, उत्पाद व ध्रौव्य कहलाता है।।२०।।

उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय णएण।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधत्वा सव्वजिणवुत्ता।।२१।।

अर्थः- पर्याय नय की अपेक्षा से वस्तु उत्पन्न व नष्ट होती है किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नित्य स्वरूप जानना चाहिये, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।।२१।।

एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाण जुदो मणो णिरुंभित्ता।
छंडउ रायं दोसं जइ इच्छइ कम्मणो णासं।।२२।।

अर्थः- यदि तुम्हारी कर्मों को नाश करने की इच्छा है तो इस प्रकार सूत्रों को

जानकर, श्रद्धान कर मन को सत् स्थानों में रोककर रागद्वेष को छोड़ो।।२२।।

विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा।
झायइ अप्पाणेणं जो सो पावेइ खलु सेयं।।२३।।

अर्थः- पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्त मन को जो अपनी आत्मा में रोकता है ऐसा आत्मा के द्वारा, आत्मा का ध्यान करके निश्चय से कल्याण को प्राप्त करता है।।२३।।

सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं।
मोहगय केसरीणं णमो णमोठाण साहूणं।।२४।।

अर्थः- जीवादि पदार्थों को अच्छी तरह जान कर जिन्होंने सम्यक् कृत्य किया है वे मोह रूपी हाथी को जीतने में सिंह के समान हैं ऐसे साधुओं को बार-बार नमस्कार हो।।२४।।

सोमच्छलेण रइया पयत्थ लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयार णिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण।।२५।।

अर्थः- सोमदत्त श्रेष्ठी के निमित्त प्रशस्त लक्षणों से युक्त, गाथाओं से समन्वित आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी ने भव्य जीवों के उपकार के निमित्त इस ग्रन्थ की रचना की है।।२५।।

"इस प्रकार परम पूज्य सिद्धान्त देव आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी द्वारा विरचित परम पूज्य राष्ट्रसंत सिद्धान्त चक्रवर्ती श्वेत पिच्छाचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज के शिष्य एलाचार्य श्री वसुनन्दि मुनिराज द्वारा अनुवादित व सम्पादित लघु द्रव्य संग्रह यह ग्रंथ पूर्ण हुआ।"

"।।इति सर्वेषां मंगलं भूयात्।।"

श्री वैराग्य मणिमाला

वसंततिलका छंद

आनन्दचिन्मयसुधारसपानतृप्तः,
शुद्धोपयोगमहिमानमुपागतश्च।
कैवल्यबोधभरितादद्भुतधामधन्यः,
पायात्पवित्रितजगत्परमात्मराजः।।१।।

अन्वयार्थः- (आनन्दचिन्मयसुधारसपानतृप्तः) आनन्द स्वरूप चैतन्यामृत के पान से तृप्त होने वाले (शुद्धोपयोगमहिमानं उपागतः) शुद्धोपयोग के माहात्म्य को प्राप्त करने वाले (कैवल्यबोधभरितादद्भुतधामधन्यः) प्रशस्त तथा अद्भुत केवलज्ञानरूपी तेज से परिपूर्ण (च पवित्रितजगत्परमात्मराजः) तथा सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करने वाले परमात्मराज (सम्पूर्ण जगत् की) (पायात्) रक्षा करें।।१।।

शार्दूलविक्रीडितम्

चिद्रूपामृतवाहिनीपरिलसत्कैवल्यसत्कैरवं,
शुद्धध्यानमरन्द बिन्दुलहरीलीलालसत्कर्णिकम्।
सत्सम्यक्त्वमृणालमण्डितवपुश्चारित्रनालान्चितं,
योगीन्द्रभ्रमरौघसेवितमिदं पायादपायात्सदा।।२।।

अन्वयार्थः- (चिद्रूपामृतवाहिनीपरिलसत्) चैतन्यरूपी अमृत गंगा में सुशोभित (शुद्धध्यानमरन्दबिन्दुलहरीलीलालसत्कर्णिकम्) शुक्लध्यान रूपी परागकणों से शोभायमान कर्णिका वाला (सत्सम्यक्त्वमृणालमण्डितवपुः) सम्यक्त्व रूपी मृणाल से मण्डित है देह जिसकी (चारित्रनालान्चितं) चरित्ररूपी नाल से युक्त (योगीन्द्रभ्रमरौघसेवितं) योगीन्द्ररूपी भ्रमर समूह से सेवित (इदं कैवल्यसत्कैरवं) ऐसा यह केवलज्ञान रूपी चन्द्र विकासी श्वेतकमल (अपायात्) धर्म के विरोधी कारणों से (सदा पायात्) सदैव (हमारी) रक्षा करें।।२।।

ज्योतिश्चिन्मयकौमुदीप्रणयिनी सद्दृष्टिरुज्जृम्भते,
शुद्धध्यानसुधासरित्प्रविलसत्यानन्दसंदायिनी।
चारित्रामृतवार्धिवीचिपटली संवर्धते मोदिनी,
चिद्रूपामृतदीधितेरुदयतो योगीन्द्रपूर्वाचले।।३।।

अन्वयार्थः- (योगीन्द्रपूर्वाचले उदयतः चिद्रूपामृतदीधितेः) योगीन्द्ररूपी उदयाचल पर उदय होने वाले चैतन्यरूपी चन्द्र से (ज्योतिः चिन्मयकौमुदीप्रणयिनी सद्दृष्टिः) चैतन्य ज्योतिरूपी कौमुदी से स्नेह करने वाली समीचीन दृष्टि (सम्यक् दर्शन) (उज्जृम्भते) वृद्धि को प्राप्त होती है, (आनन्दसंदायिनी शुद्धध्यानसुधासरित्प्रविलसति) आनन्द प्रदान करने वाली शुक्ल ध्यान रूपी अमृत गंगा शोभायमान होती है (मोदिनी चारित्रामृतवार्धिवीचिपटली संवर्धते) तथा चारित्ररूपी सुधासागर की उल्लास उत्पन्न करने वाली तरंगों का समूह वृद्धिंगत होता है।।३।।

भेदज्ञानसुधासरित्प्रणयिनीं संवर्धयन् सर्वदा,
चिद्रू पामृतचन्द्रिकां दिशि दिशि प्रोल्लासयन्नंजसा।
योगीन्द्रद्भुतबोधि कैरवलतां प्रोत्फुल्लयन्नादरा
च्छुद्धानन्तचतुष्टयामृतनिधिः प्रोज्जृम्भते पार्वणः।।४।।

अन्वयार्थः- (भेदज्ञानसुधासरित्प्रणयिनीं सर्वदा संवर्धयन्) भेदज्ञान की अमृतगंगा रूपी वल्लभा को सदैव समृद्ध करता हुआ (चिद्रूपामृतचन्द्रिकां दिशि दिश अन्जसा प्रोल्लासयन्) चैतन्यरूप अमृत ज्योत्स्ना को दशों दिशाओं में परमार्थ रूप से प्रसारित करता हुआ। (योगीन्द्रद्भुतबोधिकैरवलतां आदरात् प्रोत्फुल्लयन्) तथा योगियों की अनुपम रत्नत्रयरूपी कैरव लता को सम्मान पूर्वक विकसित करता हुआ (पार्वणः शुद्धानन्तचतुष्टयामृतनिधिः) शुद्ध अनन्तचतुष्टयरूपी पूर्ण चन्द्र उदय को प्राप्त होता है।।४।।

ज्योतिश्चिन्मयबोधिकैरवलतामुल्लासिनीं कुर्वता,
चैतन्यामृततेजसा विदधता मुक्त्यापगामन्जसा।

कैवल्यामृतवार्धिवर्धनविधिं सन्धित्सता सर्वदा,
शुद्धध्यानमहीधरे विजयते चिद्रूपचन्द्रोदयः।।५।।

अन्वयार्थः- (ज्योतिश्चिन्मयबोधिकैरवलतां उल्लासिनीं कुर्वता) चिन्मय ज्योति की **रत्नत्रयरूपी कैरवलता को प्रफुल्लित करने वाले (मुक्त्यापगां अन्जसा विदधता) मुक्तिरूपी नदी को परमार्थ से प्रवाहित करने वाले (कैवल्यामृतवार्धिवर्धनविधिं सर्वदा संधित्सता) और कैवल्यामृत समुद्र की वृद्धि की विधि को मिलाने वाले (चैतन्यामृततेजसा उपलक्षितः) चैतन्य रूपी अमृतमय तेज से युक्त (चिद्रूपचंद्रोदयः) चैतन्यरूपी चन्द्रमा का उदय (शुद्धध्यानमहीधरे) शुद्धध्यानरूपी पर्वत पर (विजयते) जयवन्त हो रहा है।।५।।**

पायं पायमपायभावरहितां चैतन्यरूपां सुधां,
नायं नायमनन्तशान्तिपदवीं चेतः स्थिरं सर्वदा।
ध्यायं ध्यायमलंघ्यबोधविशदं चिद्रूपमत्यद्भुतं,
योगिन् योगविलासरञ्जितधिया साम्यं समालम्बय।।६।।

अन्वयार्थः- (योगिन्) हे योगी! (योगविलासरञ्जितधिया) योगक्रीड़ा से रञ्जितबुद्धि के द्वारा, (अपायभावरहितां चैतन्यरूपां सुधां पायं पायं) अविनश्वर चैतन्यरूपी सुधा को पी कर (सर्वदास्थिरं चेतः अनन्तशान्तिपदवीं नायं नायं)सदा स्थिरचित्त को अनन्तशान्ति का मार्ग प्राप्त करा करा कर (अलंघ्यबोधविशदं अत्यद्भुतं चिद्रूपं ध्यायं ध्यायं) और अविनाशी ज्ञान से विशद अत्यन्त आश्चर्यकारी चैतन्य रूप का ध्यान कर कर के (साम्यं समालम्बय) समता भाव का अवलम्बन कर।।६।।

यादृग् निर्मलमूर्तिरेष वसति स्वात्मोपलब्धौ सदा,
नित्यानन्द विशुद्धचिन्मयवपुर्देहेऽपि तादृग्विधः।
भेदं मा कुरु भद्र! चित्तकमले सूक्ष्मेक्षया लोकय,
प्राप्तानन्तचतुष्टयामृतनिधिं स्वं शुद्धमत्यद्भुतम्।।७।।

अन्वयार्थः- (स्वात्मोपलब्धौ यादृग् एषः निर्मलमूर्तिः सदा वसति) स्वात्मोपलब्धि पर जैसी यह निर्मलमूर्ति सदैव विद्यमान रहती है (तादृग्विधः देहेऽपि नित्यानन्दविशुद्धचिन्मयवपुः)

ठीक उसी प्रकार से नित्य आनन्द और विशुद्ध स्वरूप वाली (वैसी ही मूर्ति) देह में भी स्थित है। (भद्र! भेदं मा कुरु) अतः हे भद्र! भेद मतकर (चित्तकमले प्राप्तानन्तचतुष्टयामृतनिधिं अत्यद्भुतम् शुद्धम् स्वम् सूक्ष्मेक्षया लोकय) अपने चित्त रूपी कमल में प्राप्त अनन्त चतुष्टयरूप अमृत निधि निज शुद्ध स्वभाव का सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन कर।।७।।

वसंततिलका छंद

रे चित्त! किं भ्रमसि भूरिविकल्पजाले,
कार्यं कियत्तव समस्ति भवान्धकूपे।
किं खिद्यसे विविधमानसजातदुःखै
श्चिद्रूपमन्वहमुपैहि सुखामृताय।।८।।

अन्वयार्थः- (रे चित्त! भूरिविकल्पजाले भवान्धकूपे तव कियत् कार्यं समस्ति!) हे चित्त! नाना विकल्प जाल से युक्त इस संसार रूपी अन्धकूप में तेरा क्या कार्य है? (किं भ्रमसि?) तू क्यों भ्रमण कर रहा है? (विविधमानसजातदुःखैः किं खिद्यसे?) तथा (भ्रमण करता हुआ) मन में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के दुखों से क्यों खिन्न हो रहा है? (यदि सुख पाना चाहता है तो) (सुखमृताय अन्वहं चिद्रूपं उपैहि) सुखरूपी अमृत का पान करने के लिए प्रतिदिन चैतन्यरूप निज आत्मा का अनुभव कर।।८।।

जीव! त्वमेहि निजमन्दिरयोग्यवासं,
किं खिद्यसे परगृहे स्वनिवासशून्यम्।
किं ताभ्यसि त्वमनिशं परवाससक्त-
श्चिद्रूपमाविश निजोत्तमधामरयम्।।९।।

अन्वयार्थः- (जीव! त्वं निजमन्दिरयोग्यवासं एहि) हे आत्मन्! अपने रहने योग्य निज मन्दिर को प्राप्त कर। (स्वनिवासशून्यम् परगृहे किं खिद्यसे?) अपने निवास के अयोग्य दूसरे घर में क्यों दुःखी होता है? (परवाससक्तः (सन्) त्वम् अनिशं किं ताभ्यसि?) दूसरे के घर में निवास की आसक्ति से निरन्तर क्यों दुखी हो रहा है? (निजोत्तमधामरम्यम् चिद्रूपं आविश) अपने उत्तम रमणीक चैतन्यरूपी निजस्थान में निवास कर।।९।।

शार्दूलविक्रीडितम्

स्वप्नेऽपि नोपशमतामुपयासि मूढ़!
भ्रान्त्वाऽऽजवंजववने बत मोहभावात्।
भो मित्र! मोहमवमुञ्च भजस्व शांतिं,
शुद्धोपयोगमुपयाहि कुरु स्वकार्यं।।१०।।

अन्वयार्थः- (मूढ़!) हे अज्ञानी! (आजवंजववने) तू संसार रूपी वन में (बत मोहभावात्) मोह भाव से (भ्रान्त्वा) भ्रमण करता हुआ (स्वप्ने अपि) स्वप्न में भी (उपशमतां न उपयासि) शान्ति को नहीं पा सकता है अतः (भो मित्र!) हे मित्र! (मोहम् अवमुञ्च) मोह का त्याग कर, (शान्तिं भजस्व) शांति को धारण कर, (शुद्धोपयोगं उपयाहि) तथा शुद्धोपयोग को प्राप्त करते हुए (स्वकार्यं कुरु) अपनी आत्मसिद्धि का कार्य कर।।१०।।

शार्दूलविक्रीडितम्

भ्रातः किं कुशलं तवास्ति सततं संसारघोरार्णवे,
स्वाशासातकरालबाडवलसद्धूमध्वजे मज्जतः।
कालक्रूरमहातिमिंगिलगिलक्रुंकारघोरीकृते,
भेदज्ञानविशिष्टबोधमचिरादालम्ब्य तीरं व्रज।।११।।

अन्वयार्थः- (भ्रातः) हे भाई! (कालक्रूरमहातिमिंगिलक्रुंकारघोरीकृते) यम सरीखे क्रूर मगरमच्छों के भीषण नाद से भयंकर (स्वाशासातकरालबाडवलसद्धूमध्वजे) तथा आशा रूपी दुख की भयंकर बड़वानल से युक्त (संसार घोरार्णवे) संसार रूपी समुद्र में (सततं मज्जतः) निरन्तर डूबने वाले (किं तव कुशलं अस्ति?) तुझको क्या कभी सुख मिल सकता है? (अर्थात् कभी नहीं मिल सकता) अतः (यदि सुख की कामना हो तो) (भेदज्ञानविशिष्टबोधं) भेदविज्ञानरूपी विशिष्टज्ञान का (अचिरात्) शीघ्र ही (आलम्ब्य तीरं व्रज) अवलम्बन कर संसार सागर से पार हो जा।।११।।

संसारे भ्रमता त्वयाऽतिसुचिरं किं साधितं ब्रूहि मे,
मूढ़ाद्यापि विशिष्टबोधनिलयो दुःखार्णवान्नोद्धृतः।
भोगक्रूरभुजंगवक्त्रकुहरे स्थातुं पुनर्वाञ्छसि,

शुक्लध्यानसुधाम्बुधौ न रमसे संसारदुःखापहे।।१२।।

अन्वयार्थः- (मूढ़) हे मूढ़! (अद्य त्वया संसारे अतिसुचिरं भ्रमता किं साधितं?) आज तक संसार में चिरकाल से भ्रमण करते हुए तूने क्या पा लिया है? (मे ब्रूहि) जरा बता तो सही! (विशिष्टबोधनिलयः (सन्) अपि) तू विशिष्ट ज्ञान का घर होते हुए भी (दुःखार्णवात् न उद्धृतः) दुःखरूपी सागर से अपने आपको नहीं निकाल सका है। (पुनः भोगक्रूरभुजंगवक्त्रकुहरे स्थातुं वाञ्छसि) अब भी भोगरूपी क्रूर सर्प के मुखरूपी कुहर में पुनः स्थित होना चाहता है। (संसारदुःखापहे शुक्लध्यानसुधाम्बुधौ न रमसे) संसार के दुःख को दूर करने वाले शुक्लध्यान रूपी सुधा सागर में (क्यों) नहीं रमता?

कामोन्मादमहाभुजंगभयदे मिथ्यात्वमोहोदके,
क्रोधाद्युग्रतिमिव्रजप्रविततते तृष्णान्धकूपे चिरम्।
किं मग्नोऽसि सखे! समस्तभुवनं यत्राणुमात्रोपमं,
तस्मान्निर्गमनं समास्ति न पुनः सन्तोषयन्त्रं बिना।।१३।।

अन्वयार्थः- (सखे) हे मित्र! (कामोन्मादमहाभुजंगभयदे) जो कामोन्मादरूपी महासर्प से भय प्रदान कर रहा है, (मिथ्यात्वमोहोदके) जो मिथ्यात्व तथा अज्ञानरूप जल से भरा हुआ है (क्रोधाद्युग्रतिमिव्रजप्रविततते) तथा जो क्रोधादि भयंकर मच्छों के समूह से व्याप्त है (तृष्णान्धकूपे चिरम् किं मग्नः असि?) ऐसे तृष्णारूपी अन्धकूप में चिरकाल से क्यों डूबा हुआ है? (यत्र समस्तभुवनं अणुमात्रोपमम्) जिसमें समस्त संसार अणु के बराबर है (पुनः तस्मात् सन्तोषयन्त्रं बिना निर्गमनं न समास्ति) उस तृष्णा रूप अन्धकूप से बाहर निकलना सन्तोषरूप यन्त्र के बिना नहीं हो सकता।।१३।।

शिखरिणी

अनादौ संसारे चिरपरिचितं विश्वमखिलम्,
त्वया धीमन्! मोहोदयपरतया नात्मचरितम्।
वदामः किं भ्रातस्तव निपुणबुद्धे र्निपुणतां,
चिदानन्दात्मानं परममपहायात्र रमसे।।१४।।

अन्वयार्थः- (धीमन्) हे विज्ञ! (संसारे अनादौ मोहोदयपरतया त्वया अखिलं विश्वं

चिरपरिचितं) **इस संसार में अनादिकाल से मोहोदय की परतंत्रता से तूने सम्पूर्ण विश्व** का तो अनुभव कर लिया है (आत्मचरितम् न) किन्तु आत्मस्वभाव का अनुभव कभी नहीं किया (भ्रातः) हे भाई (निपुणबुद्धेः तव निपुणतां किं वदामः) तुझ चतुर की चतुरता के विषय में क्या कहें? क्योंकि (परमं चिदानन्दात्मानं अपहाय अत्र रमसे) ज्ञान, दर्शन और सुखमय आत्मा को छोड़कर तू अन्यत्र रमण कर रहा है अर्थात् रागी, मोही हो रहा है।।१४।।

शार्दूलविक्रीडितम्

अन्तस्तापविजृम्भणेन सततं कामोद्भवेनाधुना,
नो जानासि हिताहितं जड़मते! तत्रैव सक्तोऽसि किम्?
अन्तःशान्तिमुपैहि मुञ्च जडतां सम्भावय स्वात्मताम्,
नित्यं चेतसिचिन्मयप्रविमलं चिद्रूपमेकं परम्।।१५।।

अन्वयार्थः- (जड़मते) हे अविवेकी! (सततं अन्तस्तापविजृम्भणेन कामोद्भवेन(त्वं) अधुना हिताहितं नो जानासि) निरन्तर अन्तस्ताप को बढ़ाने वाली इच्छाओं के कारण तू आज अपने हित अहित को भी नहीं जानता है (तत्र एव किं सक्तः असि?) फिर उसी में क्यों आसक्त हो रहा है? (जड़तां मुञ्च) अज्ञान को छोड़, (अन्तः शान्ति उपैहि) अन्तरंग शान्ति को प्राप्त कर और (चिन्मयप्रविमलं एकं परम् चिद्रूपम् स्वात्मताम्) उत्कृष्ट, उज्ज्वल, चैतन्यरूप आत्मा का (चेतसि नित्यं सम्भावय) चित्त में नित्य अनुभव कर।।१५।

हंहो चित्त! विशालसंसृतिवने तृष्णादवाग्न्युत्कटे,
कामक्रोधकरालकेसरिकुले मूर्च्छामदाष्टापदे।
क्रूरस्फारफणालकोलभुजगे मृत्यवन्धकूपाकुले,
भ्रान्त्वा तत्र चिरं तवास्ति कुशलं किं भेदबोधं बिना।।१६।।

अन्वयार्थः- (हंहो चित्त!) हे चित्त (तृष्णादवाग्न्युत्कटे) जिसमें तृष्णारूपी उत्कट दावाग्नि धधक रही है, (कामक्रोधकरालकेसरिकुले) जहाँ काम और क्रोध रूपी प्रचण्ड सिंहों का समूह है, (मूर्च्छामदाष्टापदे) जो परिग्रह और अष्टमदरूपी अष्टापदों से युक्त है, (क्रूरस्फारफणालकोलभुजगे) जहाँ क्रूर विशाल अजगर, सूकर और सर्प हैं तथा (मृत्यवन्धकूपाकुले) जहाँ मृत्युरूपी अन्धकूप विद्यमान हैं ऐसे (विशालसंसृतिवने) विशाल संसाररूपी वन में, (चिरं भ्रान्त्वा) चिरकाल भ्रमणकर, (भेदबोधं बिना) भेद विज्ञान के

बिना (किं तत्र तव कुशलं अस्ति?) क्या तेरी कुशलता हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती, भोगों से विरक्त होकर ही तू अपना कल्याण कर सकता है, अन्यथा नहीं।।१६।।

सर्वत्राशुचिसप्तधातुकलिते बद्धे स्नसाजालकैः,
वीभत्सान्त्रसमाकुले कृमिकुलाकीर्णे त्रिदोषाविले।
कालक्रूरविडालपोतभयदे खेदावहे पंजरे,
संसक्तोऽत्र कथं शुक व्रज सखे! चैतन्यचूतद्रुमम्।।१७।।

अन्वयार्थः- (शुक) हे शुक! आत्मन्! (सर्वत्र अशुचिसप्तधातुकलिते) सम्पूर्णतः अपवित्र सप्त धातुओं से युक्त, (स्नसाजालकैः बद्धे) नसों के जाल से बद्ध, (बीभत्सान्त्रसमाकुले) घृणास्पद आंतों से व्याप्त, (कृमिकुलाकीर्णे) कृमियों के समूह से समन्वित (त्रिदोषाविले) वात पित्त कफ दोषों से युक्त (कालक्रूरविडालपोतभयदे) बिल्ली के बच्चे स्वरूप क्रूरकाल के भय के कारण (खेदावहे अत्र पन्जरे कथं संसक्तः) खेद उत्पन्न करने वाले इस अस्थिपञ्जर में तू क्यों आसक्त हो रहा है? (सखे!) हे मित्र! (चैतन्यचूतद्रुमम् व्रज) चैतन्यरूपी आम्रवृक्ष का अवलम्बन ले।।१७।।

हंहो भव्यशिरोमणे! भ्रमसि किं संसारकान्तारके,
हित्वा बोधविशिष्टरत्नममलं सर्वार्थसंसाधकम्।
कामादिप्रभवां प्रपीय मदिरां मोहाभिधां मा पुनस्-
तत्पानं कुरु जातुचिद् गुणनिधे! मोक्षाभिलाषोऽस्तिचेत्।।१८।।

अन्वयार्थः- (हंहो भव्यशिरोमणे!) हे भव्य शिरोमणे! (सर्वार्थसंसाधकम्) सम्पूर्ण प्रयोजन को सिद्ध करने वाले, (अमलं बोधविशिष्टरत्नं हित्वा) निर्मल ज्ञानरूपी विशिष्ट रत्न को छोड़ कर (संसारकान्तारके) इस संसाररूपी वन में (कामादिप्रभवां) कामादि से उत्पन्न होने वाली (मोहाभिधां मदिरां प्रपीय) मोहनाम की मदिरा को पी पीकर तू (किं भ्रमसि) क्यों भ्रमण कर रहा है? (गुण निधेः) हे गुणनिधे! (मोक्षाभिलाषः अस्ति चेत्) यदि तू मोक्ष का अभिलाषी है तो फिर (जातुचिद् तत्पानं पुनः मा कुरु) कभी भी उस मोहरूपी मदिरा को मत पीना।।१८।।

भ्रातस्तत्त्वकुतूहली किल भवन् सर्वाणि तत्वान्यहो,

सम्भुक्तानि सदा त्वयैकपरमं चिद्रूपतत्त्वं बिना।
चिद्रूपामृतसेवने कुरु रतिं सौख्याभिलाषोऽस्ति चेत्,
लोके नूतनतत्त्वसंगतिरतिं बध्नाति कौतूहली।।१९।।

अन्वयार्थः- (अहो भ्रातः) **हे भाई!** (एकपरमं चिद्रूपतत्त्वं विना त्वया) **एक उत्कृष्ट चैतन्य** तत्व को छोड़कर तूने (तत्त्वकुतूहली भवन्) कौतूहलवश (सर्वाणितत्त्वानि सम्भुक्तानि) संसार के सभी तत्त्वों का सदा से अनुभव किया है। (सौख्याभिलाषः अस्ति चेत्) यदि तू सुख का अभिलाषी है तो (चिद्रूपामृतसेवने रतिं कुरु) चैतन्यरूपी अमृत के सेवन में प्रीतिकर। (लोके कौतूहली नूतनतत्त्वसंगतिरतिं बध्नाति) प्रसिद्धि है कि कौतूहल प्रेम जीव सदा नई-नई वस्तु की संगति करने का इच्छुक रहता है।।१९।।

हंहो हंस! विवेकता तव भुवि प्रख्यातिमुल्लासिनी,
वैशद्यं सकलातिशायि भुवने वस्त्वन्तरे दुर्लभम्।
चातुर्य चतुराननस्य भवतो भो मित्र! किं ब्रूमहे,
शुद्धं चिन्मयमानसं शिवपदं हित्वा वृथा मुह्यसे।।२०।।

अन्वयार्थः- (हंहो हंस!) हे हंस **(आत्मन्!)** (भुवि प्रख्यातिमुल्लासिनी तवविवेकता) संसार में तेरी प्रसिद्धि को बढ़ाने वाली विवेकता (ज्ञान) है, (भुवने सकलातिशायि वैशद्यं वस्त्वन्तरे दुर्लभम्) संसार में सभी पदार्थों का अतिक्रमण करने वाली जो निर्मलता तेरे पास है, वह भी अन्य पदार्थों में दुर्लभ है। (भो मित्र!) हे मित्र! (भवतः चतुराननस्य चातुर्य किं ब्रूमहे) ब्रह्मा सदृश तेरी चतुराई के बारे में क्या कहें? (शुद्धं चिन्मयमानसं शिवपदं हित्वा वृथा मुह्यसे) तू शिव के स्थान, शुद्ध चिन्मय मानसरोवर का त्यागकर व्यर्थ में क्यों मोहित हो रहा है? (हंस के लिए कि वह मानसरोवर को छोड़कर अन्यत्र क्यों भटक रहा है? आत्मा के लिए-कि आत्मसुख को छोड़कर विषयसुखों में क्यों मोहित हो रहा है?)।।२०।।

मंदाक्रांता छंद

हंहो चित्तभ्रमर! भवता भ्राम्यता भ्रान्तिभावाद्,
भोगासक्त्या भववनभवद्भूरितृष्णालतासु।
तासूद्गच्छद्विषमविषयप्रीतिपुष्पव्रजेषु,
नीत्वा कालं चिरमनवधि श्वभ्रदुःखं प्रपेदे।।२१।।

अन्वयार्थः- (हंहो चित्तभ्रमर) **हे चित्तरूपी भ्रमर!** (भववनभवद्भूरितृष्णा लतासु) (तासु उद्गच्छद्विषमविषयप्रीतिपुष्पव्रजेषु) विषयानुरागरूपी विविध पुष्प समूहों से युक्त, संसार रूपी जल में उत्पन्न होने वाली तृष्णारूपी विशाल लताओं में (भ्रांतिभावाद्) भ्रांति के कारण (भोगासक्त्या) भोगासक्ति से (भ्राम्यता) भटकते-भटकते (चिरं कालं नीत्वा) बहुत समय व्यतीत करके (भवता अनवधि श्वभ्रदुःखं प्रपेदे) तूने मर्यादातीत नारकीय दुःखों को प्राप्त किया है। (भोगासक्ति का फल नरक है।) ।।२१।।

वसंततिलका छंद

श्रान्तोऽसि संसृतिवने परितो भ्रमेण,
भो मित्र! मोहवशतो विषयानुसंगात्।
श्वभ्रादिदुःखमनुभूयमनन्तवारं,
निःश्रेयसाय समुपैहि समाधिभावम्।।२२।।

अन्वयार्थः- (भो मित्र!) हे मित्र! (संसृतिवने) इस संसाररूपी वन में (मोहवशतः विषयानुसंगात्) अज्ञान के कारण विषयासक्ति से (परितः भ्रमेण) सर्वत्र सब योनियों से भ्रमण करते हुए, (अनन्तवारं) अनन्तबार (श्वभ्रादिदुःखम्) नारकीय दुखों का (अनुभूय श्रान्तः असि) अनुभव कर तू थक गया है, (निःश्रेयसाय समाधिभावम् समुपैहि) अब तो अपनी मुक्ति के लिए समता भाव धारण कर।।२२।।

शार्दूलविक्रीडितम्

प्रोत्तुंगाचलमस्तके वनलताकुञ्जोदरे गह्वरे,
नद्यास्तीरसमस्थले घनवने स्थित्वा समाधौ रतः।
चिन्मुद्रांकितशुद्धभावविलसत्कैवल्यबोधोदयः,
सञ्जातोऽस्मि यदा तदा शमनिधिर्धन्योऽस्मि धन्यात्मनाम्।।२३।।

अन्वयार्थः- (प्रोत्तुंगाचलमतके) ऊँचे पर्वत के शिखर पर, (वनलताकुञ्जोदरे) वन में लताकुञ्ज के मध्यः, (गह्वरे) गुफा में, (नद्याः तीरसमस्थले) नदी के किनारे किसी समस्थान पर, (घनवने स्थित्वा) सघनवन में स्थित होकर, (समाधौरतः) ध्यान में तन्मय होते हुए (यदा चिन्मुद्रांकितशुद्धभावविलसत्कैवल्यबोधोदयः सञ्जातः अस्मि) मेरे यदि

चैतन्यमुद्रा से अंकित, शुद्धभाव से सुशोभित, केवलज्ञान का उदय हो जाय **(तदा** शमनिधिः धन्यात्मनाम् धन्योऽस्मि) तो सुख का कोष मैं अपने आपको पुण्यशालियों में पुण्यशाली समझूँगा।।२३।।

स्रग्धरा छंद

मूलं शुद्धोपयोगः परमसमरसीभावदृक्स्कन्धबन्धः,
शाखा सम्यक्चरित्रं प्रसृमरविलसत्पल्लवाः क्षान्तिभावाः।
छाया शान्तिःसमन्तात्सुरभितकुसुमः श्री चिदानन्दलीला,
भूयात्तापोपशान्त्यै शिवसुखफलिनः संश्रयो योगिगम्यः।।२४।।

अन्वयार्थः- (शुद्धोपयोगः मूलं) जिस (वृक्ष) की जड़ें शुद्धोपयोग की हैं, (परमसमरसीभावदृक्स्कन्धबन्धः) जिसका श्रेष्ठ समता भाव तथा श्रद्धारूपी तना है, (शाखा सम्यक्चरित्रं) जिसमें सम्यक्चारित्र की शाखाएँ है, (क्षान्तिभावाः प्रसृमरविल सत्पल्लवाः) जिसमें समताभाव के कोमल सुन्दर पत्ते हैं, (समन्तात् शान्तिः छाया) जिसकी सर्वत्र शान्तिदेवी छाया है (श्री चिदानन्दलीलासुरभितकुसुमः) जिसमें श्री चिदानन्द की क्रीड़ा स्वरूप पुष्पों की सुगन्ध है, ऐसा (योगिगम्यः शिवसुखफलिनः संश्रयः) योगियों द्वारा प्राप्त शिवसुख रूपी वृक्ष का आश्रय (तापोपशान्त्यै भूयात्) संसार की ताप के शांति के लिए हो।।२४।।

सिद्धिश्रीसंगसौख्यामृतरसभरितः सच्चिदानन्दरूपः,
प्राप्तः पारं भवाब्धेर्गुणमणिनिकरोद्भूरिरत्नाकरोऽपि।
चैतन्योल्लासिलीलासमयमुपगतः प्राप्तसम्पूर्णशर्मा,
योगीन्द्रैर्बोधिलब्धः परमसमरसीभावगम्यः सुरम्यः।।२५।।

अन्वयार्थः- (सिद्धिश्रीसंगसौख्यामृतरसभरितः) जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के संग से उत्पन्न होने वाले सुखरूपी अमृत से भरा हुआ है, (सच्चिदानन्दरूपः) सत् चित आनन्द ज्ञानानन्द रूप है, (भवाब्धेः पारं प्राप्तः) संसार सागर के पार को प्राप्त है (गुणमणिनिकरोद्भूरिरत्नाकरः अपि) गुणरूपी मणि समूह की उत्पत्ति के लिए विशाल रत्नाकर समुद्रस्वरूप होकर भी, (चैतन्योल्लासिलीलासमयम् उपगतः) चैतन्य गुण की उत्तम लीला के समय को प्राप्त है (प्राप्तसम्पूर्णशर्मा) जिसने समस्त सुख प्राप्त कर लिया

है, **(योगीन्द्रैः बोधिलब्धः)** बड़े-बड़े योगी जिसे रत्नत्रय द्वारा प्राप्त करते हैं **(सुरम्यः)** और जो अतिशय रमणीय है ऐसा (शुद्धात्मा) शुद्धात्मा (परमसमरसीभावगम्यः अस्ति) परम समरसी भाव-मोहक्षोभ से रहित शुद्धात्म परिणति से प्राप्त किया जा सकता है।।२५।।

रथोद्धता छंद

चिन्मयभावरूपचिद्रूपसुधारसपूर्णकुम्भयं,
केवलबोधविशदसुरसिन्धुविजृम्भणघनोदयम्।
परमानन्दचन्द्रकिरणोज्ज्वलशान्तरसौघमन्दिरं
भावय भव्य! चित्तकौमुदवनबोधकरं चिदात्मकम्।।२६।।

अन्वयार्थः- (भव्य!) हे भव्य! (चिन्मयभावरूपचिद्रूपसुधारसपूर्णकुम्भयम्) जो ज्ञायक भावरूप चैतन्य सुधारस से परिपूर्ण कलश स्वरूप है, केवलबोध (विशदसुरसिन्धुविजृम्भणघनोदयम्) केवलज्ञान रूप निर्मल गंगा को वृद्धिगत करने के लिये घनोदयरूप है, (परमानन्दचन्द्रकिरणोज्ज्वलशान्तरसौघमन्दिरम्) परमानन्दरूपी चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल शान्तरस समूह मन्दिर है, तथा (चित्तकौमुदवनबोधकरं) चित्तरूपी कुमुदवन को विकसित करने वाला है, ऐसे (चिदात्मकम् (चन्दं) भावय) चैतन्यरूप-ज्ञानस्वरूप चन्द्रमा की भावना कर।।२६।।

घनाक्षरी छंद

समयसारसुधारसवाहिनी, समयसारसुधाकरकौमुदी।
समयसारसुरद्रुममञ्जरी, विजयते जिनराजसमाकृतिः।।२७।।

अन्वयार्थः- (समयसारसुधारसवाहिनी) समयसाररूपी अमृत गंगा (समयसारसुधाकरकौमुदी) समयसाररूपी चन्द्र ज्योत्सना, (समयसारसुरद्रुममञ्जरी) समयसार रूपी कल्पवृक्ष की मञ्जरी तुल्य (जिनराजसमाकृतिः विजयते) श्री जिनेन्द्र भगवान् का रूप सदा जयवन्त हो।।२७।।

शार्दूलविक्रीडितम्

स्वच्छन्दं नवशल्लकीकवलनं पम्पासरोमज्जनम्,
रेवाशोणविगाहनं वनलताकुञ्जोदरे क्रीड़नम्।
सानन्दं गजयूथपेन गमनं मात्रा करिण्या समं,
ध्यायेद्बालगजो यथा जिनपदद्वन्दं तथा मानसे।।२८।।

अन्वयार्थः- (यथा बालगजः) जिस प्रकार हाथी का बच्चा **(स्वच्छन्दं नवशल्लकीकवलनं) स्वच्छन्दरूप से नवशल्लकी के भक्षण की इच्छा करता है, (पम्पासरोमज्जनम्) पम्पसरोवर में स्नान करना चाहता है, (रेवाशोणविगाहनं)** रेवा और सोन नदी में अवगाहन करना चाहता है, **(वनलताकुञ्जोदरे क्रीड़नम्)** सघन वन में कुञ्जों के बीच क्रीड़ा करना चाहता है, **(गजयूथपेन, मात्रा करिण्या समं सानन्दं गमनं ध्यायेत्)** अपने साथियों के साथ, माता हथिनी के साथ सानन्दगमन की इच्छा करता है **(तथा मानसे जिनपदद्वन्दं)** उसी प्रकार से मैं भी जिनेन्द्र भगवान के चरणयुगलों का मानस में ध्यान करता हूँ।।२८।।

आर्या छंद

**जन्मनि जन्मनि जिनवर! रमताम् त्वत्पादपदमयुगलेऽस्मिन्।
भक्तिभ्रमरी निभृतं चिद्रूपामोदबोधकिञ्जलके।।२९।।**

अन्वयार्थः- (जिनवर!) हे जिनवर! **(भक्तिभ्रमरी)** मेरी भक्तिरूपी भ्रमरी **(चिद्रूपामोदबोधकिञ्जलके)** चैतन्यरूपी सुगन्ध से और ज्ञानरूपी पराग से युक्त **(अस्मिन् त्वत् पादपदमयुगले निभृतं) आपके चरण कमलों के युगल में (जन्मनि जन्मनि रमताम्) जन्म जन्मान्तर में रमण करती रहे।।२९।।**

मंदाक्रांता छंद

**श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिप्रभुगुणमहितः स्वामिविद्यादिनन्दो,
धीमान् श्री पूज्यपादो गुणनिधिरुदयप्राप्तकैवल्यबोधः।
मुक्तिश्रीसौख्यसम्पत्प्रवरगुरुगणोल्लासिरत्नत्रयात्मा,
जीयात्तीर्थेश्वरोऽयं जिनपतिरखिलं शास्ति लोकं स नोऽव्यात्।।३०।।**

अन्वयार्थः- (श्रीमद् देवेन्द्रकीर्तिप्रभुगुणमहितः) इन्द्र के समान कीर्ति वाले, नायक गुण से समन्वित, **(स्वामिविद्यादिनन्दः)** स्वकीय ज्ञानादि गुणों की वृद्धि करने वाले, **(धीमान्)** ज्ञानवान्, **(श्री पूज्यपादः)** पूज्य हैं चरण जिनके, **(गुणनिधिः)** गुणों के कोष, **(उदयप्राप्तकैवल्यबोधः)** विशिष्ट अनुपम केवल ज्ञान के धारक, **(मुक्तिश्री सौख्यसम्पत्प्रवरगुरुगणोल्लासिरत्नत्रयात्मा)** मुक्तिरूपी लक्ष्मी और सुख की सम्पदाओं से युक्त, श्रेष्ठ गुरु समूह की वृद्धि करने वाले, रत्नत्रयस्वरूप आत्मा वाले, **(अयं तीर्थेश्वरः जिनपतिः)** तीर्थेश्वर जिनपति, **(अखिलं लोकं शास्ति जीयात्)** जो सम्पूर्ण लोक को हित का उपदेश देते हैं तथा सर्वोत्कृष्ट हैं, **(सः नः अव्यात्)** वे हमारी रक्षा करें।

विशेषः- उपर्युक्त श्लोक में आचार्य देवेन्द्रकीर्ति, स्वामी विद्यानन्दी तथा आचार्य पूज्यपाद **आदि पूर्वाचार्यों का स्मरण भी किया गया है।**

अनुष्टुप छंद

वैराग्यमणिमालेयं रचिता सदलंकृतिः।
विशालकीर्तियतिना विद्यानन्दो दयार्थिना।।३१।।

अन्वयार्थः- (विद्यानन्दोदयार्थिना) ज्ञान और सुख की वृद्धि के अभिलाषी (विशालकीर्तियतिना) श्री विशालकीर्ति यति के द्वारा (इयं सदलंकृतिः वैराग्यमणिमाला रचिता) श्रेष्ठ अलंकारों से समन्वित यह वैराग्य मणिमाला रची गयी है।।३१।।

अर्हत्प्रवचनम्

श्री प्रभाचंद्राचार्य विरचित

दृष्टं चराचरं येन केवलज्ञान चक्षुषा।
प्रणम्य महावीरं वेदकान्तं प्रवक्ष्यते।।१।।

अर्थः- जिनके केवलज्ञानरूपी चक्षु के द्वारा समस्त चराचर पदार्थ देखे जाते हैं ऐसे अन्तिम भगवान् महावीर प्रभु को नमोस्तु कर वेदकान्त अर्थात् सिद्धान्त मेरे (प्रभाचन्द्राचार्य) द्वारा प्रतिपादन किया जाता है-

तत्र में षड्जीवनिकायाः।।१।। पंचमहाव्रतानि।।२।। पंचाणुव्रतानि।।३।। त्रीणि गुणव्रतानि।।४।। चत्वारि शिक्षाव्रतानि।।५।। तिस्रो गुप्तयः।।६।। पंच समितयः।।७।। दश-धर्मानुभावनाः।।८।। षोडश भावनाः।।९।। द्वादशानुप्रेक्षाः।।१०।। द्वाविंशति परीषहाः।।११।।

अर्थः- इनमें पाँच स्थावर- पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा वनस्पति, एक त्रस- द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक, इस प्रकार छह जीवनिकाय हैं। पाँच महाव्रत- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इसप्रकार पाँच महाव्रत हैं। इसी प्रकार पाँच अणुव्रत- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह परिमाण अर्थात् ये पंचाणुव्रत हैं। तीन गुणव्रत- दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थ दण्ड त्याग व्रत इस प्रकार हैं। चार शिक्षाव्रत- सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथि संविभाग ये चार हैं। तीन गुप्ति- मनोगुप्ति,वचनगुप्ति तथा काय गुप्ति इस प्रकार ये तीन हैं। पाँच समिति- ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति तथा उत्सर्ग समिति इस प्रकार हैं। दश धर्म- उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मानुभावना हैं। सोलह भावना- १. दर्शन विशुद्धि, २. विनय सम्पन्नता, ३. शील व्रतेष्वनतिचार, ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६. शक्ति तस्तप, ७. शक्ति तस्त्याग, ८. साधु समाधि, ९. वैयावृत्य, १०. अर्हद्भक्ति, ११. आचार्य भक्ति, १२. बहुश्रुत भक्ति, १३. प्रवचन भक्ति, १४. आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्ग प्रभावना तथा

१६. प्रवचन वात्सल्य इस प्रकार ये भावना हैं। बारहअनुप्रेक्षा- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोकानुप्रेक्षा,बोधि दुर्लभ तथा धर्मानुप्रेक्षा इस प्रकार हैं। बाईस परीषह- १. भूख, २. प्यास, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. नग्नत्व, ७. अरति, ८. स्त्री,९. चर्या, १०. आसन, ११. शयन, १२. दुर्वचन, १३. बध-बन्धन, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८ मल, १९. सत्कार, २० प्रज्ञा, २१. अज्ञान, २२. अदर्शन इस प्रकार हैं।

तत्र नव पदार्थः।।१।। सप्त तावानि।।२।। चतुर्विधोन्यासः।।३।। सप्तनयाः।।४।। चत्वारि प्रमाणानि।५।। षड् द्रव्याणि।।६।। पंचास्ति काया।। ७।। द्विविधो गुणः।।८।। पंच ज्ञानानि।।९।। त्रीण्यज्ञानानि।।१०।। चत्वारि दर्शनानि।।११।। द्वादशांगानि।।१२।। चतुर्दश पूर्वाणि।।१३।। द्विविधं तपः।।१४।।द्वादश प्रायश्चित्तानि।।१५।। चतुर्विधो विनयः।।१६।। दश वैयावृत्यानि।।१७।। पंचविधः स्वाध्यायः।।१८।। चत्वारि ध्यानानि।।१९।। द्विविधो व्युत्सर्गः।।२०।।

अर्थः- जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य और पाप मिलकर नव पदार्थ हैं। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। तथा- नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप तथा भाव निक्षेप ये चार प्रकार के हैं। और नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवं भूत इस प्रकार ये सात नय हैं। तथा प्रत्यक्ष, परोक्ष, विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष ऐसे चार प्रमाण हैं। छह द्रव्य- जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य तथा काल द्रव्य इस प्रकार हैं। पंचास्तिकाय इस प्रकार हैं।- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश। दो प्रकार के गुण हैं- अनुजीवि गुण तथा प्रतिजीवि गुण। पाँच ज्ञान हैं। समति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान। तथा तीन अज्ञान हैं।- कुमति, कुश्रुति तथा कुअवधि(विभंगावधि)। चार प्रकार के दर्शन हैं चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन तथा केवल दर्शन। बारह अंग हैं- आचारांग, सूत्र कृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातृ कथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्द, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद। चौदह पूर्व हैं- १. उत्पाद पूर्व, २. आग्रायणी पूर्व, ३. वीर्यानुवाद पूर्व, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व, ५. ज्ञानप्रवाद पूर्व, ६. कर्म प्रवाद पूर्व, ७. सत्यप्रवाद पूर्व, ८. आत्मप्रवाद पूर्व, ९. प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व, १०. विद्यानुप्रवाद पूर्व, ११. कल्याणप्रवाद पूर्व, १२. प्राणानुवाद पूर्व, १३. क्रिया विशाल पूर्व, १४. लोक बिन्दुसार पूर्व। दो प्रकार के तप हैं- १. अन्तरंग तथा २. बहिरंग। बारह प्रकार के प्रायश्चित हैं।- १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. उभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. पर्यायच्छेद,

८. मूल, ९. परिहार, १०. श्रद्धान, ११. मासिक चातुर्मासिक १२. षाण्मासिक। चार प्रकार के विनय हैं दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय तथा तप विनय। दश प्रकार के वैयावृत्य हैं।- १. आचार्य वैयावृत्य, २. उपाध्याय वैयावृत्य, ३. तपस्वी वैयावृत्य, ४. शिक्षक वैयावृत्य, ५. ग्लान वैयावृत्य, ६. गण वैयावृत्य, ७. कुल वैयावृत्य, ८. संघ वैयावृत्य, ९. साधु वैयावृत्य, १०. मनोज्ञ वैयावृत्य इस प्रकार के वैयावृत्य के ये दस भेद हैं। पाँच प्रकार के स्वाध्याय हैं वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा आम्नाय तथा धर्मोपदेश। चार प्रकार के ध्यान हैं, पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत। दो प्रकार के व्युत्सर्ग हैं कायोत्सर्ग तथा ध्यानोत्सर्ग।

त्रिविधःकालः।।१।। षड्विधः काल समयः।।२।। त्रिविधो लोकः।।३।। अर्ध तृतीया द्वीप समुद्राः।।४।। पंच दश क्षेत्राणि।।५।। चतुस्त्रिंशद्वर्षधर पर्वताः।।६।। पंच दश कर्म भूमयः।।७।। त्रिंशद्भोग भूमयः।।८।। सप्ताधो भूमयः।।९।। सप्तेवमहानरकाः,।।१०।। चतुर्दश कुलकराः।।११।। चतुर्विंशति तीर्थंकराः।।१२।। नवबलदेवाः।।१३।। नववासुदेवाः।।१४।। नव प्रतिवासुदेवाः।।१५।। एकादशरुद्राः।।१६।। द्वादश चक्रवर्तिनः।।१७।। नवनिधयः।।१८।। चतुर्दश रत्नानि।।१९।। द्विविधाः पुद्गलाः।।२०।।

अर्थः- तीन प्रकार के काल हैं। भूत काल, वर्तमान काल तथा भविष्यत् काल। छह प्रकार के काल समय हैं- सुषमा-सुषमा,सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा तथा अति दुषमा। तीन प्रकार के लोक हैं- मध्य लोक, ऊर्ध्व लोक तथा अधो लोक। ढ़ाईद्वीप तथा समुद्र हैं- जम्बूद्वीप, धातकीखंड द्वीप, पुष्करवर द्वीप तथा असंख्यात समुद्र हैं तथा पंद्रह प्रकार के क्षेत्र हैं- १. भरत क्षेत्र, २. हिमवत क्षेत्र, ३. हरि क्षेत्र, ४. विदेह क्षेत्र, ५. रम्यक क्षेत्र, ६. हैरण्यवत् क्षेत्र, ७. ऐरावत क्षेत्र, ८. जिनमंदिर, ९. जिन प्रतिमा, १०. आगम, ११. यति, १२. आर्यिका, १३. श्रावक, १४. श्राविकाएँ, १५. दक्षिण कुरुक्षेत्र, उत्तर कुरुक्षेत्र। तथा चौंतीस वर्षधर पर्वत हैं- १. हिमवन्, २. महाहिमवन्, ३. निषध, ४. नील, ५. रुक्मि, ६. शिखरिणापर्वतः इन छह को ५ से गुणा करने से ३० हो जाते हैं। ४. इस प्रकार पर्वत मिलकर कुल ३४ हैं पन्द्रह कर्मभूमि हैं- १. विदेह क्षेत्र मे पाँच, भरत क्षेत्र में पाँच तथा ऐरावत क्षेत्र में पांच कुल पन्द्रह। तथा तीस भोग भूमियाँ ये हैं।- ५. हैमवत्, ५. हैरण्यवत् जघन्य। ५. हरिवर्ष, ५. रम्यक क्षेत्र मध्यम। ५. देवकुरू, ५. उत्तर कुरू उत्तम। और सात अधो अर्थात् नरक भूमियाँ हैं -रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा,बालुकाप्रभा,पंकप्रभा, धूम प्रभा, तमप्रभा तथा महातमप्रभा। तथा सात ही महानरक हैं। चौदह कुलकर हैं प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर,

विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित तथा नाभिराज। चौबीस तीर्थंकर- वृषभनाथ जी, अजितनाथ जी, शम्भवनाथ जी, अभिनन्दननाथ जी, सुमतिनाथ जी, पद्मप्रभ जी, सुपार्श्वनाथ जी, चन्द्रप्रभ जी, पुष्पदंत जी, शीतलनाथ जी, श्रेयांसनाथ जी, वासुपूज्य जी, विमलनाथ जी, अनन्तनाथ जी, धर्मनाथ जी, शान्तिनाथ जी, कुन्थुनाथ जी, अरनाथ जी, मल्लिनाथ जी, मुनिसुव्रतनाथ जी, नमिनाथ जी, नेमिनाथ जी, पार्श्वनाथ जी, वर्द्धमान जी। ९. बलदेव- अचल जी, विजय जी, भद्रजी, सुप्रभ जी, सुदर्शन जी, आनन्द जी, नन्दन जी, रामचन्द्र जी, बलभद्र जी। नव वासुदेव- त्रिपृष्ठ जी, द्विपृष्ठजी, स्वयम्भूजी, पुरुषोत्तम जी, पुरुषसिंह जी, पुंडरीक जी, दत्त जी, लक्ष्मण जी, कृष्ण जी। नव प्रति वासुदेव -अश्वग्रीव जी, तारकजी, मेरकजी, मधुकैटभजी, निशुम्भ जी, बलीजी, प्रहलाद जी, रावण जी, जरासंध जी। ग्यारह रुद्र- भीमबली जी, जिनशत्रु जी, महादेव जी, विश्वानल जी, सुप्रतिष्ठित जी, अचल जी, पुण्डरीक जी, अजितधर जी, जितनाभिजी, पीठ जी, सात्यकी जी। बारह चक्रवर्ती- भरत जी, सगर जी, मघवा जी, सनत्कुमार जी, शान्तिनाथ जी (तीर्थंकर, कामदेव) कुन्थुनाथ जी (तीर्थंकर, कामदेव), अरनाथ जी (तीर्थंकर, काम देव) सुभौमजी, महापद्म जी, हरिषेण जी, जय जी, ब्रह्मदत्त जी। नवनिधि- कालनिधि, महाकाल निधि, पांडुकनिधि, माणवाख्यनिधि, नैसर्पाख्यनिधि, सर्वरत्नाख्यनिधि, शंखनिधि, पद्मनिधि, पिंगलाख्यनिधि। चौदह रत्न- १ सुदर्शन चक्र, २. सुनन्द खड्ग, ३. दण्ड चमर, ४. छत्र, ५. चूड़ामणि, ६. सेनापति, ७ चिन्तामणि, ८ कांकिणी, ९. अरिंजयअश्व, १०. विजयार्ध पर्वत हाथी, ११. भजकुण्ड स्थपति, १२. विद्यासागर पुरोहित, १३. कामवृद्धि गृहपति, १४. सुभद्रानामक स्त्री इस प्रकार हैं। दो प्रकार के पुद्गल- अणुरूप तथा स्कन्धरूप से हैं।

देवाश्चतुर्णिकायाः।।१।। भवन वासिनो दशविधाः।।२।। व्यन्तरा अष्टविधाः।।३।। ज्योतिष्काः पंचविधाः।।४।। द्विविधा वैमानिकाः।।५।। द्विविधा कल्प स्थितिः।।६।। अहमिन्द्राश्चेति।।७।। पंचजीव गतयः।।८।। षट् पुद्गल गतयः।।९।। अष्टविधि आत्म सद्भावः।।१०।। पंच विधं शरीरम्।।११।। अष्टगुणा ऋद्धिः।।१२ पंचेन्द्रियाणि।।१३।। षड्लेश्याः।।१४।। द्विविधंशीलम्।।१५।।

देवों के चार प्रकार- कल्पवासी देव, ज्योतिर्वासी देव, व्यंतरवासी देव तथा भवनवासी देव। भवनवासी के दश प्रकार- असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार तथा दिक्कुमार। व्यन्तरदेव ८ प्रकार के- किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत तथा पिशाच। ज्योतिर्वासी के पाँच भेद- सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, प्रकीर्णक तारका।

वैमानिक देव दो प्रकार के- कल्पोपपन्नदेव और कल्पातीत। कल्पस्थिति दो प्रकार की- कल्पवासी तथा कल्पातीत। पाँच प्रकार की गतियाँ- देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति तथा सिद्धगति। छह प्रकार की पुद्गल की गतियाँ- १ स्थूल- स्थूल, २. स्थूल, ३. स्थूल सूक्ष्म, ४. सूक्ष्म स्थूल, ५. सूक्ष्म, ६. सूक्ष्म- सूक्ष्म। आठ प्रकार के आत्मा के सद्भाव- १. औदयिक, २. औपशमिक, ३. क्षायोपशमिक, ४. क्षायिक, ५. पारिणामिक, ६. जीवत्व, ७ भव्यत्व और ८. अभव्यत्व। पाँच प्रकार के शरीर- १. औदारिक, २. वैक्रियिक, ३. आहारक, ४. तैजस और ५ कार्माण। आठ प्रकार की ऋद्धियाँ १ अणिमा, २. महिमा, ३. गरिमा, ४. लघिमा, ५. प्राप्ति, ६. प्राकाम्य, ७. ईशित्व और८. वशित्व। पाँच इन्द्रियाँ- १. स्पर्श, २ रसना, ३. घ्राण, ४. चक्षु और ५ कर्ण। छह प्रकार की लेश्यायें- १. शुक्ल २. पद्म, ३. पीत, ४. कापोत, ५. नील और ६. कृष्ण। दो प्रकार के शील- एक स्वदार (स्व स्त्री) सन्तोष और दूसरा ब्रह्मचर्य।

त्रिविधो योगः।।१।। चत्वारः कषायः।।२।। त्रयो दोषाः।।३।। पंचविधाश्रवाः।।४।। त्रिविधः संवरः।।५।। त्रिविधा निर्जरा।।६।। पंच लब्धयः।।७।। चतुर्विधो बन्धः।।८।। पंचविधा बन्धहेतवः।।९।। अष्टौ कर्माणि।।१०।। द्विविधो मोक्षः।।११।। चत्वारो मोक्ष हेतवः।।१२।। त्रिविधो मोक्ष मार्गः।।१३।। पंचविधा निर्ग्रन्थाः।।१४।। द्वादशसिद्धस्थानुयोग द्वाराणि।।१५।। अष्टौसिद्धगुणाः।।१६।। द्विविधाः सिद्धाः।।१७।। वैराग्यं चेति।।१८।।

तीन प्रकार के योग- मनोयोग, वचन योग तथा काय योग। चार प्रकार के कषाय- क्रोध, मान, माया तथा लोभ। तीन प्रकार के दोष- द्रव्य कर्म, भाव कर्म तथा नो कर्म। पाँच प्रकार के आस्रव- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग तथा प्रमाद। तीन प्रकार के संवर- द्रव्य सवर, भाव संवर तथा कर्म संवर। तीन प्रकार की निर्जरा- द्रव्य निर्जरा तथा नोकर्म निर्जरा, भाव निर्जरा। पाँच प्रकार की लब्धियाँ- क्षयोपशम लब्धि,देशना-लब्धि, विशुद्धि लब्धि, प्रायोग्य लब्धि तथा करण लब्धि। चार प्रकार के बन्ध- प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, अनुभाग बन्ध तथा स्थिति बन्ध। पाँच प्रकार के बन्ध के कारण- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग तथा प्रमाद। आठ प्रकार के कर्म- दर्शनावरण, ज्ञानावरण, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय, गोत्र, नाम तथा आयु। दो प्रकार के मोक्ष- द्रव्य मोक्ष तथा भाव मोक्ष। चार प्रकार के मोक्ष हेतु- सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा तथा भव्यत्व। तीन प्रकार के मोक्ष मार्ग- सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र। पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ- पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ तथा स्नातक। बारह प्रकार के सिद्धों के अनुयोग द्वार- क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध, बोधित ज्ञान, अवगाहन, अनन्त सुख,

अनन्त वीर्य, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, अगुरू लघुत्व तथा सूक्ष्मत्व। दो प्रकार के सिद्ध- तीर्थंकर केवली सिद्ध तथा सामान्य केवली सिद्ध। तथा वैराग्य।

।।इति अर्हत्प्रवचनम् ।।

आचार्य श्री योगीन्द्र देव विरचित
ज्ञानांकुशम्

मंगलाचरण

शुद्धात्मानं परं ज्ञात्वा, ज्ञानरूपं निरज्ज्नम्।
वक्ष्ये संक्षेपतो योगं, संसारोच्छेद कारणम्।।१।।

अर्थः-मैं उत्कृष्ट,ज्ञानस्वरूप तथा कर्मकलंक से रहित शुद्धत्मा को जानकर संक्षेप से उस योग-ध्यान को कहूँगा जो संसारच्छेद का कारण है।।१।।

कायप्रमाणमात्मनं, व्योमरूपं निरंजनम्।
चैतन्यं भावयेन्नित्यं, ज्ञानं प्राप्नोति निश्चयम्।।२।।

अर्थः- जो पर्याय दृष्टि से शरीर प्रमाण और द्रव्य दृष्टि से असंख्यात प्रदेशी होने से लोकाकाश प्रमाण और द्रव्यार्थिक नय से नित्य चैतन्य स्वरू आत्मा की निरंतर भावना करता है वह निश्चय सम्यगज्ञान को प्राप्त हो जाते हैं।

शुभाशुभात्मकं कर्म, देहिनां भवधारिणाम्।
भावे शुभाशुभे नष्टे, देहो नश्यति देहिनाम्।।३।।

अर्थः-संसारी प्राणियो का कर्म शुभ तथा अशुभरूप होता है अर्थात् कभी शुभ परिणति करके ये शुभ कर्म का संचय करते हैं और कभी अशुभ परिणति करके अशुभ कर्म का संचय करते हैं,परन्तु जब शुभ और अशुभ-दोनों ही भाव नष्ट हो जाते हैं तब इन प्राणियों का शरीर नष्ट हो जाता हैं अर्थात् शरीर रहित अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

भावक्षये समुत्पन्ने, कर्म नश्यति निश्चयात्।
तस्माद्भावक्षयं कृत्वा, न किञ्चिंदपि चिन्तयेत्।।४।।

अर्थः-विभाव-भावों का क्षय होने पर कर्म निश्चय हो जाते हैं इसलिये विभाव-भावों का क्षय करके कुछ भी चिंतन नहीं करना चाहिये अर्थात् ध्यान ध्याता और ध्येय का विकल्प छोड़ स्वरूप में निमग्न होना चाहिए।

ध्यानं स्थिरमनश्चैव, फलं स्यात्कर्म निर्जरा।
एवं विध विचारेण, योगं निश्चयमाचरेत्।।५।।

अर्थः-मन का स्थिर होना ध्यान है तथा कर्मों की निर्जरा होना ध्यान का फल है ऐसा विचार कर निश्चय ध्यान को धारण करना चाहिये।

संकल्प एवं जन्तूनां, कारणं बन्धमोक्षयोः।
वीतरागोऽपवर्गस्य, सरागो बन्धकारणम्।।६।।

अर्थः-जीवों का संकल्प ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। वह संकल्प वीतराग और सराग के भेद से दो प्रकार का है। उनमें वीतराग संकल्प अपवर्ग-मोक्ष का कारण है और सराग संकल बन्धका कारण है।

अभाव भावनं चैव भावं कृत्वा निराश्रयम्।
निश्चलं हि मनः कृत्वा, न किचिंदपि चिन्तयेत।।७।।

अर्थः- 'शुद्धद्रव्यार्थिक नय से मेरी आत्मा में रागादि भावों का अभाव है'ऐसी भावना कर वर्तमान दशा में पर्याय दृष्टि से चल रहे रागादिक भावों को निराश्रय करना चाहिये अर्थात् ये रागादिक मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं हैं ऐसा ध्यान करना चाहिये और मन को निश्चल कर कुछ भी चिंतन नहीं करना चाहिये अर्थात् निविकल्प दशा में स्थित होना अथवा शुद्धज्ञायक भाव को छोड़कर मेरा अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा चिंतन करना चाहिये।

आत्मा हि ज्ञानमित्युक्तं, ज्ञानात्मनौ विकल्पकम्।
ज्ञाने ज्ञानमालम्ब्य, योगिन्! कर्मक्षयं कुरु।।८।।

अर्थः-गुण और गुणी की अभेद विवक्षा में'आत्मा ज्ञानरूप है'ऐसाकहा गया है। 'ज्ञान और आत्मा'इस प्रकार गुण गुणी का पृथक् निर्देश करना विकल्प है।इसलिये हे योगी!तू ज्ञान के द्वारा ज्ञान का आलम्बनलेकर कर्मों का क्षय कर।

गृहस्थो यदि वा लिंगी ब्रह्मचारी विशेषतः।
ध्यानं करोति शुद्धात्मा मुच्यते नात्र संशय।।९।।

अर्थः-गृहस्थ हो,चाहे निगृन्थ वेष को धारण करने वाला साधु।विशेष कर ब्रह्मा-आात्मस्वरूप में विचरण करता हुआ वह जब ध्यान करता है। तब शुद्धात्मा होता हुआ कर्मबन्ध से मुक्त होता है,इसमें संशय नहीं है।

पदार्था अन्यथा लोके, शास्त्रं स्यादिदमन्यथा।
अन्यथा मोक्षमार्गश्च, लोकः क्लिश्यति चान्यथा।१०।।

अर्थः-लोक में पदार्थ अन्य प्रकार हैं,यह शास्त्रअन्य प्रकार है,मोक्षमार्ग अन्य प्रकार हैऔर यह जीव अन्य प्रकार क्लेश उठा रहा है।

वर्णातीतं कलातीतं, गन्धातीतं विनिर्दिशेत्।
पूर्वं द्वन्दविर्निर्मुक्तं, ध्यायेदर्हत्सदा शिवम्।।११।।

अर्थः-ध्यान का अभ्यासी मनुष्य,सबसे पहले उन महापूज्य सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करे जो वर्ण से रहित है,शरीर रहित है,गन्ध रहित है और रागद्वेषादि सब प्रकार के द्वन्दों से रहित है।

गच्छन् वा यदि वा सुप्त, आलापं चापि भोजनम्।
कुर्वन्नाप्नोति तद्ध्यानं, येनात्मा लभते शिवम्।।१२।।

अर्थः-मनुष्य चल रहा हो,सो रहा ी,बातचीत कर रहा हो अथवा भोजन कर रहा हो तो उस समय वह उस ध्यान को प्राप्त नहीं होता जिससे कि मोक्ष प्राप्त हो सके।

यो नरः शुद्धमात्मानं, ध्यायेत्कृत्वा मनः स्थिरम्।
स एव लभते सौख्यं, निर्वाण शाश्वतं पदम्।।१३।।

अर्थः-जो मनुष्य मन को स्थिर कर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है वही सुखस्वरूप शाश्वत-स्थायी मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरंजनम्।।१४।।

अर्थः-धर्म्यध्यान के चार भेद हैं-१ पदस्थ २पिण्डस्थ ३ रूस्थ और ४ रूपातीत।इनमें से मन्त्रवाक्य में जो स्थित है अर्थात् जिसमे मंत्रों का चिन्तवन किया जाता है वह पदस्थ ध्यान कहलाता हैं। जिसमें शरीर सिथत सवकहय आतमा का चिन्तवन किया जाता है वह पदस्थ ध्यान कहलाता है। जिसमें शरीर सर्वचैतन्य रूप अर्हंत परमेष्ठी का चिन्तन किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है और जिसमें कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमेष्ठी का चिंतन होता है वह रूपातीत ध्यान है । इन ध्यान का विशद वर्णन पृथक् लेख द्वारा किया गया है ।।१४।।

कषायं नोकषायं च, कर्म-नोकर्म ह्येव च।
मनोऽतीन्द्रियसर्वस्वे, त्यक्त्वा योगी समाचरेत्।।१५।।

अर्थः-योगी-ध्यान करने वाले पुरुष को कषाय, नोकषाय,कर्म तथा नोकर्म को छोड़कर अपनी मन अतीन्द्रिय सर्वस्व-शुद्धातमस्वरूप में लगावे।

आत्मा सत्यं परिज्ञाय, सर्वकर्म परिव्यजेत्।
आत्मानन्दत्वद् भावं, ज्ञानकर्म समाचरेत्।।१६।।

अर्थः-'आत्मा ही सत्य है'ऐसा जानकर समस्त कर्मों का परित्याग करना चाहिये-उनसे ममत्व भाव हटाना चाहिये तथा आत्मा अनन्तत्व से युक्त है अर्थात् आत्मा अनादि अनन्त है,यही मेरा है इसके सिवाय अन्य किसी पर द्रव्य के प्रति मेरा स्वामित्व नहीं है।इस प्रकार ज्ञानरूप भाव को करना चाहिये अर्थात् उस ज्ञानस्वभाव के प्रति स्वामित्व भाव रखना चाहिये।

तस्मात्कर्म परित्यज्य, स्वात्मतत्वं समाचरेत्।
आचरितात्मतत्त्वश्च, स्वयमेव परो भवेत्।।१७।।

अर्थः-इसलिये कर्म को छोड़कर स्वात्मतत्त्व का आचरण करना चाहिये अर्थात् अपना उपयोग अपने चिंतन में लगाना चाहिये क्योंकि आत्मतत्व का आचरण करने वाला पुरुष स्वयं ही पर-श्रेष्ठ हो जाता है-परमात्मा बन जाता है।

पाप कर्म परित्यज्य, पुण्यकर्म समाचरेत्।
भावभेद शुभं कर्म, व्यक्त्वा योगी समाचरेत्।।१८।।

अर्थः-योगी को पाप क्रियाओं को छोड़कर पुण्य क्रियाओं का आचरणकरना चाहिये और अशुभ क्रियाओं को छोड़कर शुभ क्रियाओं की भावना रखनी चाहिये।

अनन्त ज्ञान मेवाहं, मनोवाक्काय वर्जितम्।
अत्ययविकलं शुद्धं, तत्पदं शुद्ध संपदाम्।।१६।।

अर्थः- जो मन वचन कायसे रहित है,विनाश से रहित है,शुद्ध है औरशुद्ध-सम्दाओंका क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दर्शन,अनन्त सुख तथा क्षायिक वीर्य आदि शुद्ध संपदाओं का स्थान है उस अनन्त ज्ञान रूप ही मैं हूँ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र त्रितयात्मकम्।
तेनात्मदर्शनं नित्यं, रत्नत्रितयभावना ।।२०।।

अर्थः-क्योंकि आत्मा का दर्शन सम्यगदर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों से तन्मय है अतःनिरन्तर उपर्युक्त रत्नत्रय की भावना करना चाहिये।

मतिश्रुतावधिश्चेति, मनःपर्ययकेवलम्।
ज्ञानात्मा मुक्तिरित्युक्तं, पंचादिपरमेष्ठिनाम्।।२१।।

अर्थः-मति,श्रुति,अवधिमनपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं अर्थात् आत्मा का जो सहज ज्ञानागुण है उसकी ये पाँच पर्यायें हैं। इन पञ्चविध पर्यायों से हटकर एक सहजज्ञानरूप रह जाना,यह मुक्ति है।सा पञ्च परमेष्ठियों का कथन है।

देहं चैत्यालयं प्राहुर्देही चैत्यं तथोच्यते।
तद्भक्तिश्चैत्यभक्तिश्च, प्रशस्या भववर्जिता।।२२।।

अर्थः-शरीर चैत्यालय है,उसमें रीनेवाला जीव चैत्य है-प्रतिमा है और उसकी भक्ति चैत्य भक्ति प्रशंसनीय है तथा संसार परिभ्रमण से दूर करने वाली है।

यथा च कांचनं शुद्धं, दग्ध्वा पिंडस्य बन्धनम्।
जीवोऽपि हि तथाभूतं, सम्यग्ज्ञानेन शुद्धयति।।२३।।

अर्थः-जिस प्रकार स्वर्ण, अपने साथ लगे हुए किट्टकालिमादिरूप पिण्ड के बन्धन को जलाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार जीव भी अपने साथ लगे हुए कर्मपिण्ड रूप बन्धन को सम्यग्ज्ञान रूपीअग्नि के द्वारा जलाकर शुद्ध हो जाता है।

प्रपचंरहित शास्त्रं, प्रपंचरहितो गुरुः।
प्रपंचरहितो मोक्षो, दृश्यते जिनशासने।।२४।।

अर्थः- जिन शासन में प्रपञ्च-पूर्वापर विरोध से रहित शास्त्र,प्रपञ्च मायाचार से रहित गुरू और प्रपञ्च-भोगोपभोग के विस्तार से रहित मोक्ष देखा जाता है।

नास्ति ध्यानसमो बन्धुर्नास्ति ध्यानसमो गुरुः।
नास्ति ध्यानसमं मित्रं, नास्ति ध्यानसमं तपः।।२५।।

अर्थः-ध्यान के समान भाई नहीं है,ध्यान के समान गुरु नहीं है,ध्यान के समान मित्र नहीं है,औरै ध्यान के समान तप नहीं है,

परमात्मा द्विविधः प्रोक्तः, सकलो निष्कलस्तथा।
सकलोऽर्हत्स्वरूपो हि, सिद्धो निष्कल उच्यते।।२६।।

अर्थः-परमात्मा दो प्रकार के कहे गये हैं एक सकल और दूसरे निष्कल।अर्हन्त भगवान् सकल परमात्मा और सिद्ध परमेष्ठि निष्कल परमातमा कहे जाते हैं।

श्रूयते ध्यानयोगेन, संप्राप्तं पदमव्ययम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, कुर्याद्, ध्यानं बुधोत्तमः।।२७।।

अर्थ - पूर्वकाल में सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं उन्हें वह अविनाशी पद ध्यान के योग से ही प्राप्त हुआ है ऐसा सुना जाता है इसलिये ज्ञानी जीवों को पूर्ण प्रयत्न से ध्यान करना चाहिये ।

पक्षपातविनिर्मुक्तं, लाभालाभविवर्जितम्।
मायामनः परित्यक्तं, तत्वं भवति योगिनः।।२८।।

अर्थ - योगी का तत्त्व - योगीपना पक्षपात से रहित, लाभ - अलाभ के विकल्प से रहित और मायाचार रूप मानसिक परिणाम से रहित होता है।

गर्भिणी च यथा नारी, पश्यत्यन्तः स्थसत्वकम्।
एवं योगी स्वदेहस्थं स्वं पश्येद् रेचकादिभिः।।२९।।

अर्थ - जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने भीतर स्थित बालक का निरन्तर ध्यान रखती है उसी प्रकार योगी को रोचक कुम्भक तथा पूरक आदि क्रियाओं को करते समय अपने शरीर के भीतर स्थिर स्वकीय आत्मतत्त्व का अवलोकन करना चाहिये अर्थात् उसका ध्यान रखना चाहिये ।

न जापेन न होमेन नाक्षसूत्रस्य धारणात्।
प्राप्यते तत्परं तत्वं प्राप्यं त्वात्मविचिन्तनात्।।३०।।

अर्थ - वह परम तत्त्व न तो जप से प्राप्त होता है,न होम से प्राप्त होता है और न अक्षसूत्र के धारण करने से प्राप्त होता है किन्तु आत्म चिन्तन से प्राप्त होता है।

प्रभातं योगिनो नित्यं, ज्ञानादित्यो हृदि स्थितः।
इतरेषां नराणां च, न प्रभातं कदाचन।।३१।।

अर्थ - जिस योगी के हृदय में ज्ञानरूपी सूर्य स्थित है उस योगी का निरन्तर प्रभात रहता है शेष मनुष्यों का प्रभात - प्रातः काल कभी नहीं होता है।

देहाज्जीवं पृथककृत्वा, चिन्तयेत्तद्विचक्षणः।
देहस्यैव च देहित्वे, ध्यानं तत्र विनिष्फलम्।।३२।।

अर्थ - ज्ञानी जीव को चाहिये कि वह शरीर से आत्मा को पृथक् कर उसका चिन्तवन करे । जहाँ शरीर को ही आत्मा माना जा रहा है वहाँ ध्यान निष्फल है।

आत्म कर्म परित्यज्य, परदृष्टिं विशोधयेत्।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परिचिन्तया।।३३।।

अर्थ - आत्मा की क्रिया को छोड़कर पर पदार्थ की दृष्टि को शुद्ध करना चाहिये अर्थात् पर पदार्थ की ओर से दृष्टि हटाना चाहिये, क्योंकि शुद्धात्मस्वरूप में स्थित रहने वाले पुरुषों को परपदार्थ की चिन्ता से क्या प्रयोजन है?

चिन्तया नश्यते ज्ञानं, चिन्तया नश्यते बलम्।
चिन्तया नश्यते बुद्धिर्व्याधिर्भवति चिन्तया।।३४।।

अर्थ - परपदार्थों की चिन्ता से ज्ञान नष्ट होता है, परपदार्थों की चिन्ता से बल नष्ट होता है, पर पदार्थो की चिन्ता से बुद्धि नष्ट होती है और पर - पदार्थो की चिन्ता से व्याधि - शारीरिक पीड़ा होती है।

अन्यच्छरीरं मन्योऽहमन्ये सम्बन्धिबान्धवाः।
एवं स्वं च परं ज्ञात्वा, स्वात्मानं भावयेत्सुधीः।।३५।।

अर्थ - शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ और सम्बन्धी तथा भाई-बान्धव आदि अन्य हैं। इस तरह निज और पर को जानकर ज्ञानी जीव को स्वशुद्धात्मा की ही भावना करनी चाहिये ।

अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरन्तरं दृष्ट्वा, कस्य शौचं विधीयते।।३६।।

अर्थ - शरीर अत्यन्त मलिन है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है। दोनों का अन्तर देखकर किसकी शुद्धि की जाय ।

एकः करोति कर्माणि, भुङ्क्ते चैकोऽपि तत्फलम्।
एकोऽपि जायते नूनमेको याति भवान्तरम्।।३७।।

अर्थ - यह जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही परलोक को जाता है।

ऊर्ध्व श्वासविनिर्मुक्तमधः श्वासविवर्जितम्।
मध्यशून्यं पदं कृत्वा, न किंचिदपि चिन्तयेत्।।३८।।

अर्थ - ऊर्ध्वश्वास को ऊपर छोड़कर, अधःश्वास को नीचे रोककर तथा मध्य - स्थान को शून्य कर जो ध्यान की स्थिति बनती है उसमें कुछ भी चिन्तवन नहीं करना चाहिये, किन्तु स्वरूप में निमग्न रहना चाहिये ।

यावन्निर्वर्तते चिन्ता, तावत्पारं न गच्छति।
विद्यते हि परं तत्वं, मनोऽपोहितकायवत्।।३९।।

अर्थ - जब तक चिन्ता रहती है तब तक यह जीव पार को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि परम **तत्त्व मनरहित काय के समान निश्चेष्ट है।**

अरिषड्वर्गमाश्रित्य, भूपोऽपि न च भूपतिः।
अरिषड् धर्ममाश्रित्य, योगो योगो न योगिनाम्।।४०।।

अर्थ - काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं का आश्रय कर जो राजा होता है वह राजा नहीं है इसी प्रकार ध्यान में बाधक होने से शत्रुतुल्य दया दान पूजा सेवा यम और नियम इन छह विकल्पात्मक धर्मो का आश्रय कर योगियों का जो योग होता है वह योग नहीं है।

आर्त्तरौद्रं परित्यज्य, धर्म्यशुक्लं समाचरेत्।
ताभ्यां परतरं नास्ति, परमात्म प्रभाषितम्।।४१।।

अर्थ - आर्त्त और रौद्र नामक दुर्ध्यानों को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल नामक उत्तम ध्यानों को धारण करना चाहिये क्योंकि इनसे श्रेष्ठ अन्य ध्यान नहीं है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

वैराग्यं तत्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समभावना।
जयः परीषहाणां च, पञ्चैते ध्यानहेतवः।।४२।।

अर्थ - वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थमुद्रा, समताभाव और परिषह विजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं।

नेत्र द्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे।
वक्त्रे नाभौशिरसि हृदय तालुनि भ्रूयुगान्ते।।
ध्यानस्थानान्यमलतिभिः कीर्तितान्यात्मदेहे।
तिष्ठैकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम्।।४३।।

अर्थ – निर्मल बुद्धि के धारक आचार्यो ने अपने शरीर में नेत्रयुगल, कर्णयुगल, नासिका **का अग्रभाग, ललाट,मुख, नाभि, शिर, हृदय,तालु, और भृकुटि युगल ये ध्यान के स्थान बताये हैं। हे योगी ! तुझे ध्यान में बैठकर इन स्थानों में से किसी एक स्थान में विषय वाञ्छा से रहित अपना चित्त लगाना चाहिये ।**

ज्ञानाङ्कुशमिदं चित्त प्रमत्तकरिणां कुशम।
योऽधीतेऽनन्यचेतस्कः, सोऽभ्युपैति परं पदम्।।४४।।

अर्थ – यह ज्ञानांकुश स्तोत्र मनरूपी मदोन्मत्त हाथियों को वश करने वाला है। जो स्थिर चित्त होकर इसका अध्ययन करता है वह परम पद को प्राप्त होता है।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः